


G.L. SAH

प्रस्तुत कथा-कृति का आरम्भ चाहे कालिदास की अज्ञान-दशा की प्रचलित कथा-प्रवृत्ति को लेकर हुआ हो, परन्तु उसका चरित्र-विस्तार सर्वथा अभिनवता के आधार पर हुआ है और कथा की कल्पना-मूर्ति दिव्य तथा भव्य रूप में विकसित हुई है। जो कवि की महत्ता-महिमामयता के अनुरूप है। कथाकार ने वस्तु-गठन के पूर्व महाकवि के साहित्य और विचार विभेदों को सावधानी पूर्वक हृदयंगम करने का प्रयास किया है। विद्वानों के तर्क तन्तुओं को समझने, सुलझाने का आयास किया है। प्रथम शताब्दी को प्रश्रय देने वाले प्रथित-यश पंडितों के बहुमत-पुष्ट प्रमाणों ने लेखक को प्रभावित-प्रेरित और अनुप्राणित किया है। उसी से सुसंगत संलग्न-कथा-सूत्रों को सु-संगुम्फित कर इस चरित्र का विस्तार किया है। अवश्य ही यह सर्वथा अभिनव किन्तु मौलिक कृति है, जो कालिदास की कथा को लेकर इतने विस्तार के साथ उपन्यास के रूप में अवतरित हो रही है।

—पद्म भूषण श्री सूर्यनारायण व्यास

# कालिदास

( ऐतिहासिक उपन्यास )

लेखक

सन्तोष व्यास

भूमिका-लेखक

पद्म-भूषण सूर्यनारायण व्यास

प्रकाशक

आनन्द पुस्तक भवन, वाराणसी

प्रकाशक

आनन्द-पुस्तक-भवन

पहड़िया, वाराणसी

कार्यालय—औसानगंज, वाराणसी—१

प्रथम संस्करण

१९६०

मूल्य चार रुपया



मुद्रक

बैजनाथ प्रसाद

कल्पना प्रेस

रामकटोरा रोड, वाराणसी

उन विद्वानों के
चरणों
में
जिन्होंने कवि के प्रति निरन्तर लिखा।
उन्हें यह कृति ठीक वैसे ही प्रिय हो,
जिस प्रकार गिरा-रहित मनुष्य
( गूँगे ) के संकेत सज्जनों
को होते हैं !

—सन्तोष व्यास

# अन्तर-ध्वनि

निरन्तर दो वर्षों तक मैंने "कालिदास" की रचना के लिए गहन अध्ययन किया। खूब सोचा और खूब ही समझने की कोशिश की। उसके पश्चात् ही मैं इस दुरूह विषय को लेकर लिखने बैठा। जहाँ तक मैंने देखा है—"कालिदास" पर किसी ने कहानी या उपन्यास की रचना नहीं की। मुझे अत्यधिक आश्चर्य है कि इतने लोकप्रिय विश्ववंद्य चरित्र (कालिदास) पर लिखने के लिए हिन्दी के तथा अन्य भाषाओं के साहित्य-महारथियों की लेखनी क्यों नहीं मचली? क्या कारण हैं कि उसकी (कवि की) प्रखर-प्रतिभा से पूर्ण परिचित एवं प्रभावित होते हुए भी किसी ने भी कुछ नहीं लिखा? हाँ, स्वर्गीय श्रीमान् रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं राष्ट्रकवि श्रीमन्त मैथलीशरणजी गुप्त आदि साहित्य-महाप्राणों ने कवि की स्मृति में कविता-पुष्प अवश्य अर्पित किए हैं। परन्तु चरित्र को लेकर किसी भी मूर्धन्य कलाकार ने स्वतंत्र उपन्यास लिखने की ओर ध्यान नहीं दिया।

...कारण रहस्यमय ही लगता है मुझे। आज सर्वत्र देश-विदेश में कवि कालिदास की कीर्ति आकीर्ण हो रही है। उनके गुण-गम्य-ग्रन्थों का विभिन्न देशी-विदेशी भाषाओं में प्रमुख-प्रमुख विद्वान् लेखकों की लेखनी द्वारा अनुवाद हुआ, और होता जा रहा है। कवि के ग्रन्थ "अभिज्ञान शाकुंतलम्" और "मेघ-दूत का" सोवियत-रूस में पर्याप्त

सम्मान हुआ। विभिन्न देशों में प्रमुख कलाकारों द्वारा इन कृतियों पर प्रदर्शन भी किया गया। कवि की स्मृति पर उत्सव मनाए गए। रेडियों पर प्रोग्राम किए गए......सर्वत्र सम्मान-ही-सम्मान पाया भारत के इस शीर्षस्थ कवि ने।

परन्तु उस मालव-महा-विभूति का जीवन, उनका चरित्र, उनका जन्म-स्थान, उनका काल—यह सभी पुरातत्वविदों के लिए एक प्रश्न चिन्ह ही बना हुआ है अभी तक। निरन्तर इतिहास-क्षेत्र के अखाड़ों में तर्क-युद्ध चल रहे हैं। कोई महा-मर्मज्ञ ई० पू० ५००-६०० तक कवि को घसीट ले जाने का प्रयत्न कर चुके हैं और कोई द्वितीय चन्द्र-गुप्त "विक्रमादित्य" से संगति जोड़ते हैं। पर बहुमत है कि ई० पू० प्रथम शती के प्रथमांश में मालव देश की उज्जैनी नगरी में शकारि विक्रम राज्य करते थे, जिन्होंने म्लेच्छ शकों को भारत से सुदूर खदेड़ा था और विक्रम संवत् का प्रवर्त्तन किया था। उसी स्वनाम धन्य ऐतिहासिक महापुरुष "विक्रम" की सभा में कवि कालिदास सम्मानित थे।

श्रद्धेय श्री सूर्यनारायणजी व्यास "पद्म-विभूषण" ने कवि कालिदास के सम्बन्ध में पर्याप्त लिखा है। उसकी स्नेहिता भगिनी का पुत्र होने का मुझे सौभाग्य प्राप्त है। मैंने भी उनकी कृपा-करतल की छाँव तले बैठ इस विषय पर अध्ययन किया और इस पुस्तक को लिखा। कवि का काल मैंने ई० पू० प्रथम शती ही माना है। ग्रन्थ में अनेक सामयिक किवंदन्तियों का समावेश भी कथा की रोचकता के लिए है। जैन श्रमण क्षपण मालवेश विक्रम के साथ महाकाल महालय में जाते हैं, मैंने कथा-प्रसग में दर्शाया है। यह जैन ग्रन्थों से प्राप्त किंवदन्ती है, परन्तु वह अधिक सत्य प्रतीत नहीं होती...केवल रोचक होने के नाते ही मैंने उसे कथा में जोड़ दिया है। शेष सभी समावेशित किंवदन्तियाँ ऐतिहासिक-महत्व की हैं। जहाँ तक संभव हो सका कथानक में ऐतिहासिकता

की मर्यादा का पूर्ण रूप से पालन गया किया है। उपन्यास के पात्र : सभी चरित्र ऐतिहासिक ही है। मेनका, मिहर ( कालकाचार्य का शिष्य ) तथा अन्य आवश्यक पात्र कल्पित हैं।

...जो भी हो, पुस्तक मैंने परिश्रम से बनाई है इसलिए मुझे अधिक प्रिय है; परन्तु अब यह जिनके हाथों में है, वे इसे प्रिय कहें तभी मेरा परिश्रम सार्थक होगा और मैं अपने आपको धन्य मानूँगा। इसे पढ़ना और हृदयंगम करना आपका ( पाठक ) कार्य है। उस महान कवि के प्रति हृदय में अपार श्रद्धा थी और इसीलिए उस श्रद्धा से अभिभूत होकर मैंने इस पुस्तक को लिखा है, तदर्थ मेरी चित्त-प्रश्रब्धि हो चुकी है। अब तो मैं पुस्तक के प्रति आपमें सन्तोष चाहता हूँ।...पुस्तक प्रस्तुत है।

विनम्र

—सन्तोष व्यास

योगीपुरा, उज्जैन

तिथिः—१।७।६०

# आरम्भ

कालिदास का जन्म-समय और जन्म-स्थान जहाँ दाव का विषय बन रहा हो, भ्रान्तियाँ उत्पन्न की जा रही हों और सही सूत्रों के साधन सुलभ न हों, वहाँ कवि के चरित्र की प्रामाणिकता प्राप्त करना कैसे सरल संभव हो ? आज तक ऐसा कोई विश्वस्त निर्बाध प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है कि अधिकार-पूर्वक कुछ कहा-सुना जा सके। कालिदास की अमर कृतियों को लेकर ही अनुमानों के उत्तुङ्ग-शैल-शृंग पर कलाकारों की कल्पना स्वैर-विहार करती रहती है, देश के विभिन्न भागों में शतियों से अनेक किंवदन्तियाँ, कथा-गाथाएँ प्रचलित हैं, और लोक-मानस में स्थान बनाए हुए हैं। उन्हें इतिहास-तथ्य की कसौटी पर परखा जाना भी सुकर नहीं है। अनुमानाश्रय को लेकर कुछ ऐसी ही कृतियाँ प्रकाश में आईं और आती रहती हैं।" इनमें प्रभु-मूरत जिस जैसी देखी" उसका चित्रण हो गया है।

प्रस्तुत कथा-कृति का आरम्भ चाहे कालिदास की अज्ञान-दशा की प्रचलित कथा-प्रवृत्ति को लेकर हुआ है, परन्तु उसका चरित्र-विस्तार सर्वथा अभिनवता के आधार पर हुआ है। और कथा की कल्पना-मूर्ति दिव्य तथा भव्य रूप में विकसित हुई है जो कवि की महत्ता-महिमामयता के अनुरूप है। कथाकार ने वस्तु-गठन के पूर्व महाकवि के साहित्य और विचार-विभेदों को सावधानीपूर्वक हृदयंगम करने का प्रयास किया है। विद्वानों के तर्क-तन्तुओं को समझने, सुलझाने का आयास किया है। प्रथम शताब्दी को प्रश्रय देने वाले प्रथित-यश पंडितों के बहुमत

पुष्ट प्रमाणों ने लेखक को प्रभावित, प्रेरित और अनुप्राणित किया है। उसी से सुसंगत संलग्न-कथा-सूत्रों को सुसंगुम्फित कर इस चरित्र का विस्तार किया गया है। अवश्य ही यह सर्वथा अभिनव किन्तु मौलिक कृति है, जो कालिदास की कथा को लेकर इतने विस्तार के साथ वृहद्-कथा ( उपन्यास ) के रूप में अवतरित हो रही है। चि० सन्तोष ने और भी पौराणिक, सामाजिक कथाएँ लिखी हैं, पर वे प्रकाश-पथ में नहीं आ पाई हैं। लेखन की स्वाभाविक-प्रवृत्ति से साधना के क्षेत्र तक सीमित हैं।

कला-शिल्प की कसौटी पर "कालिदास" में भी कमियाँ दिखाई दे सकती हैं, कथा-गठन और शब्द-संधान में भी आलोचना का अवसर मिल सकता है। किन्तु कालिदास के इस संपूर्ण कथानक में एक आकर्षण और रस का स्रोत प्रवाहित है। कल्पना के ताने-बाने में भी इतिहास के मूल-भूत तथ्यों को उपेक्षित नहीं किया गया है। अन्य कथानकों की अपेक्षा इसकी स्वतंत्र विशेषता और सूत्र-बद्धता है। यह मौलिक और मनोहारी है। विस्तृत-कथा के रूप में सर्वथा प्रथम और अभिनव है। पाठकों के लिए यह रुचिकर सिद्ध होगी। विश्वास है तरुण-कथा-शिल्पी की इस सरल, सरस रचना को प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

चि० सन्तोष ने विश्व के महान और अवन्ती के परम-प्रिय कवि की अर्चना में अपना प्रथम प्रसून समर्पित कर अपनी साधना का जो शुभारंभ किया है, वह साधना की सफलता में सहायक सिद्ध होगा।

—सूर्यनारायण व्यास

१।७।६०
भारती-भवन
उज्जैन

# आभार

जो मस्तक पर भार है, उसे आभार देकर मैं अपने आपको कुछ हलका करना चाहूँ, तो व्यर्थ है। क्योंकि वह उतना ही बढ़ेगा। परन्तु हृदय-शान्ति उसी में है कि वह जिसके प्रति है, दे दूँ।

पूज्य मामा जी (श्री सूर्यनारायणजी व्यास "पद्म-विभूषण") के प्रति मैं क्या आभार प्रदर्शन करूँ, क्योंकि मेरा जो कुछ भी है, वह सब उन्हीं का है। उन्हीं के प्रांगण में पलकर बड़ा हुआ हूँ। आभार का आधार नहीं है फिर भी मैं उनके चरणों में नत होकर निरन्तर पद-वन्दना की भावनाएँ हृदय में लेकर उन्हें आभार प्रस्तुत कर रहा हूँ...आशा है वे स्वीकार करेंगे। उन्होंने निरन्तर उत्साहित कर इस क्षेत्र में बढ़ने को उत्सुक किया और सदैव सर्व-सुविधाएँ प्रदान कीं। अस्तु। आभार रूपी तीन शब्दों से मुझे कुछ सन्तोष नहीं है, पर मैं अल्पज्ञ इसके अतिरिक्त उन्हें और दे भी क्या सकता हूँ! यावज्जीवन उनका ऋणी रहूँगा।

तत्पश्चात् स्वजनों को श्रद्धामय होकर मेरा आभार है, क्योंकि सभी ने मुझे पुस्तक लिखने के लिए स्वतन्त्र किया। पूज्य भ्रातावर श्रीयुत श्यामनारायणजी व्यास एवं श्री सुरेन्द्र व्यास का अवनीतल मुख कर आभार प्रस्तुत कर रहा हूँ—उन्होंने सामयिक सुझाव दिए।

श्रीयुत सम्पूर्णानन्दजी एम० ए० आभार के परम भागी हैं, जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित करना स्वीकार किया...वे मेरा आभार स्वीकार करें।

—सन्तोष व्यास

## पूर्व-परिचय

मालव महिम नगरी उज्जयिनी विक्रम के भी बहुत पूर्व से भारत के गणमान्य राज्यों की राजधानी थी। पौराणिक महत्व तो इसे एक वरिष्ठ पांत पर बिठालता ही है, तथापि ऐतिहासिक तथ्यानुसार यह प्रद्योत-काल से प्रगति की चरम सीमा पर चढ़ चुकी थी। इतिहास एवं पुरातत्वान्वेषण इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

यहाँ का व्यापार बहुत उन्नत था। प्रतिदिन दूर-दूर के अनेकों पथिक नवीनतम वस्तुएँ संग्रहीत कर आते थे, और आर्यावर्त के व्यापारिक नाभिस्थल उज्जयिनी में क्रय-विक्रय किया करते थे। मूँगा, पन्ना, लोहा, ताँबा, कपास, बहुमूल्य-वस्त्र तथा उच्चकोटि के गेहूँ यहाँ के व्यापार के प्रमुख साधन थे। उज्जयिनी में तीन ओर से व्यापार-मार्ग आकर मिलते थे। यह उत्तर-पश्चिम में गोनर्द, विदिशा तथा अन्य अनेक व्यापारिक-केन्द्रों से सम्बन्धित थी। दूसरा मार्ग महिष्मती होता हुआ प्रतिष्ठान, नासिक इत्यादि अन्यस्थलों को जाता था। तीसरा महत्वपूर्ण मार्ग सौराष्ट्र, भृगुकच्छ ( वर्तमान भड़ौच ) शूर्पारिक ( वर्तमान बम्बई प्रान्त के थाना जिले में सोपारा ) इत्यादि को महिष्मती के द्वारा ही जाता था।

आर्यावर्त के प्रमुख-प्रमुख केन्द्रों से इन मार्गों द्वारा सम्बन्ध होने से इसका ऐतिहासिक सांस्कृतिक महत्व और भी बढ़ जाता है। और यही कारण था कि आर्यावर्त में धर्म-प्रचारार्थ धर्म-प्रचारकों ने इसे धर्म-केन्द्र बनाया। यह प्रत्येक धर्मों का प्रमुख केन्द्र रही है। बौद्ध और जैन श्रमण यहाँ सैकड़ों की संख्या में विचरण किया करते थे। अनेकों चैत्य, विहार और स्तूप यहाँ बन गये थे।

उज्जयिनी विद्या केन्द्र रही है। तक्षशिला से भी पूर्व में इसी का नाम लिया जाता था। यहाँ प्रत्येक शिक्षाएँ समुचित रूप से दी जाती थी, जिनमें संस्कृत, विज्ञान एवं ज्योतिषशास्त्र प्रमुख विषय थे। दूर-दूर के छात्र यहाँ पढ़ने आते थे, तथा स्नातक होकर जाने में अपना गौरव समझते थे। उज्जयिनी के स्नातकों का सम्राटों की राज्य-सभाओं में सम्मान होता था। यहाँ के स्नातकों ने प्रायः इतिहास में वह स्थान पाया है, जो सदैव-सदैव के लिये विश्व के इतिहास में एक स्वर्णिम पृष्ठ ही कहा जाना यथेष्ठ है। गीता के गायक कृष्ण, उदयन की वीणा के तारों के संगीत को लेखनी पर उतारने वाला भास और विश्वाम्बर का एक ही गणमान्य प्रखर तारा कविकुल गुरु कालिदास—आज के युग में उसे कौन नहीं जानता?—यहीं का तो था। विद्या संस्कृति की प्रमुख-स्थली, आर्यावर्त की विशाल तथा सर्वश्रेष्ठ नगरी उज्जयिनी प्रद्योत-काल के पश्चात् कुछ काल तक उच्छिन्नावस्था में रही। इस मध्य कई छीना-झपटियाँ हुईं, अनेक परिवर्तनों-परान्त इसका इतिहास गर्दभिल्ल तक आता है। गर्दभिल्ल, जिसे कहीं कहीं गंधर्वसेन भी सम्बोधित किया गया है, पराक्रमी एवं तेजस्वी सम्राट था। न्यायी तथा धर्मप्रिय होते हुए भी गर्दभिल्ल की प्रवृत्ति विलासी थी। उस समय उज्जयिनी में कालकाचार्य नामक एक जैन आचार्य चातुर्मास के लिए आए हुए थे। उन्हीं की एक भगिनी थी, जो रूप और गुण में अद्वितीय थी, नाम उसका सरस्वती था। गर्दभिल्ल ने सरस्वती को देखा, और आसक्त हो

गया। छल-प्रपन्च से सरस्वती का हरण कर उसने उसे अपने हर्म्य में रख लिया। राज्य-सचिवों तथा कालकाचार्य ने गर्दभिल्ल से बहुत प्रार्थना की; परन्तु सरस्वती पर आसक्त गर्दभिल्ल के समक्ष सभी असफल रही। और यह छोटी सी घटना उज्जयिनी के इतिहास में एक बहुत बड़ा अंधकार खींच लाई। कालकाचार्य ने गर्दभिल्ल के नाश करने की प्रतिज्ञा की, तथा तत्कालीन सशक्त शकों को आमंत्रित कर गर्दभिल्ल को नष्ट करवा दिया। गर्दभिल्ल को मार शकों ने यहाँ अपना राज्य विस्तारित किया। और मालव की यह युग-युग की स्वतन्त्र नगरी, इतिहास में यह प्रथम अवसर था, जो एक विदेशी-विधर्मी शासक के हाथों में आ पराधीन बनी।

सहानुसाही अत्याचारी था। जिस उज्जयिनी के पवित्र वातावरण में वैदिक मन्त्रों की प्रतिध्वनि गुञ्जारित होती रहती थी वहाँ अब असहायों का करुणामय क्रन्दन कर्णगोचर होने लगा। जिस पुनीत क्षिप्रा तट पर धर्म प्रचार होते थे, वहाँ अब दास-दासियों के व्यापार-स्थल बन गये थे। चारो ओर अराजकता, तथा शकों के बढ़ते हुए अत्याचारों से प्रजा असन्तुष्ट हो गई थी।

शकों का राज्य अधिक काल तक नहीं चल पाया। गर्दभिल्ल के प्रतिभावान शूर-पुत्र विक्रम ने प्रच्छन्न रूप से एक विशाल सैन्य संगठित की, उसके प्रमुख व्यक्ति समूचे मालव में जन-जाग्रति कर रहे थे। आन्ध्र, कलिंग, विदिशा तथा मगध आदि प्रमुख राज्यों से सैनिक सहायताएँ पर्याप्त रूप से प्राप्त हुईं। विक्रम के नेतृत्व में इस सुसंगठित सैन्य ने शकों से आतंकित अवन्तिका को चारों ओर से घेर लिया। यहाँ वैज्ञानिक योगीराज बैताल, वररुचि जैसे नीतिज्ञ तथा कपित्थग्राम के महा कार्तान्तिक वराहमिहर के मंत्रणाबल पर विक्रम ने तत्काल ही उज्जयिनी का पुनरुद्धार किया, तथा म्लेच्छ शकों को उज्जयिनी से ही नहीं; अपितु 'कोरूट' तक खदेड़ भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण कार्य किया।

पुनः उज्जयिनी के राज्याधिकारी सम्राट विक्रम घोषित किये गये, तथा इस प्रसन्नता के वातावरण में सम्वत् आरम्भ किया गया; जिसे विक्रम सम्वत् घोषित किया गया। और आज जब उज्जयिनी के नर-नारी विक्रम सा सम्राट पा पूर्वरूपेण सुख एवं शान्ति की अनुभूतियों में परिप्लावित थे तब......दूर महामालव महिम महाँकालेश्वर के विशाल प्रकोष्ठ में वृहत् प्रदोष-पूजा हो रही थी......और......!!

## १

# वन्दे महाकाल महं सुरेशम्...!

एक सौ इक्कीस विशालाकार स्तम्भों पर आधारित गगनचुम्बी महाकाल के मन्दिर में बज रहे नगाड़ों की ध्वनि से भयभीत कपोत मन्दिर के उतुंगशिखर पर से उड़-उड़कर निकट ही लहराते हुए निर्मल रुद्रसागर पर छा गये। कमलिनियों तथा कुमुदिनियों से पूरित सरोवर के कहीं-कहीं खुले जल में उड़ते हुए कपोतों की परछाईं ऐसी लगती थी, जैसे श्वेत कमलों के मध्य बार बार नील-कमल प्रगट हो-होकर अदृश्य हो रहे हों।

रुद्रसागर के जल में कपोतों की यह आँखमिचौनी कुछ ही क्षणों तक होती रही, क्योंकि उड़ान प्रदर्शित करते हुए कपोत, दूसरे तट पर स्थित पुराण प्रसिद्ध माँ हरसिद्धी के महा-मन्दिर की परिक्रमा-सी करते, पुनः अपने-अपने स्थल पर आ बैठे। मानो प्रतिपाल भगवान शिव के ये "कपोत दूत" उनका कोई गूढ़ सन्देश भगवती हरसिद्धी को देकर पुनः लौट आए हों, और अपनी भाषा में "गुटूर-गूँ गुटूर-गूँ" कर सन्देश का उत्तर सुना रहे हों!

मन्दिर के द्वार पर नगाड़े अनवरत मेघगर्जन सी ध्वनि कर रहे थे। प्रातः कालीन प्रकाश धीरे-धीरे प्रखर होता जा रहा था। भस्मारती समाप्त होते ही देवालय के प्रांगण में देव दासियों के नूपुर झन-झना उठे, मृदंग और वीणा के मधुर स्वरों पर थिरकती हुई वे नर्तकियाँ भगवान महाकाल के प्रांगण में पूजा-नृत्य करने लगी। दर्शनार्थ आने वाले उपासकों की भीड़ अब शनैः शनैः बढ़ने लगी थी। अन्दर गर्भगृह में पुजारी डमरू वादन कर रहे थे, और डमरू-घोष के ऊपर गूँजती हुई उनके मुँह से सस्वर निकलती हुई "महीम्न" और "रुद्र" की पंक्तियाँ भक्तों के हृदय में निष्ठा उत्पन्न कर रही थी।

"अवन्तीनाथ की जय!"

"भगवान महाकाल की जय!"

...जयघोष से मन्दिर की प्राचीरें हिल उठी। सिंह-द्वार पर एक दिव्य-रथ आकर रुका। सेवक ने रथ पर पड़े हुए स्वर्णिम आवरण को सादर अलग हटाया। दिव्यालोक की भाँति प्रकाशमान् मालवमणि महाराज विक्रमादित्य रथ से उतरे। उनके सौम्य मुखमण्डल पर अद्भुत तेज विराजमान था। विशाल पुष्ट-कन्धों पर रत्न जटित कौशेय दुपट्टा पड़ा हुआ था। उन्होंने हाथ फैला अपनी नव विकसित कन्या, प्रियंगु मंजरी को रथ से उतारा। उसके सौन्दर्य से, उसकी छवि से, उसके मुख पर उभरे यौवन के प्रकाश से सारा वातावरण द्युतिमान हो उठा। वह मन्द-मन्द स्मित हास्य करती हुई, अपने पिता का सहारा पाकर रथ से नीचे उतर आई। महानीतिज्ञ आचार्य वररुचि जी भी इसी रथ से उतरे। इनके मुख पर सदैव-ही चन्द्रिका सी फैली रहती थी।

तीनों, जन समुदाय के मध्य से होते हुए देव-प्रकोष्ठ की दिशा में जा रहे थे। सभी उपासक निर्निमेष भाव से देख रहे थे, एकटक आचार्य

और सम्राट विक्रम के मध्य, मन्थर-गति से चल रही—कुमारी प्रियंगु मञ्जरी की ओर। उसकी गज गामिनी सी चाल और नव विकसित यौवन तथा सौन्दर्यालंकृत मुख, बरबस सभी के नेत्रों को उस पर आकर्षित किये हुए था। अपने तन्व-क्षीण गौर-गात पर वह झीना परिधान ओढ़े थी, जो झिल-मिला रहा था। मन्द-मन्द वायु संचार के कारण। कटि-भाग पर बँधी मेखला जो घुटनों से नीचे तक लटक रही थी; वह हर पद संचालन पर अनोखे ढंग से उठ-गिर रही थी। अनेक कुण्डलाकार वेणुओं में पुष्पों से युक्त कुन्तल समूह, मस्तक के अग्रभाग में जूड़े के रूप में बँधे हुए थे। जिनमें से लटक रही कुछ केश राशियाँ कन्धे पर झूल रहीं थीं, जिन्हें वह वायु से खेलने से रोक रही थी। सुन्दर ललाट, धनुषाकार भौंहें, मृगी-शावक से भी अधिक चकित चञ्चल नेत्र; आकर्षक नासिका, रक्तिम राग से पूरित बिम्बाधर, उठी-गोल चिबुक और ग्रीवा की अनेकानेक स्वेद-मुक्ताओं से तर रेखायें। हर्षावेश से बार-बार उठता-गिरता उत्तुङ्ग वक्षस्थल। लज्जा से झुकी सौन्दर्य-सामंजस्य से अलंकृता प्रियं, सम्राट और आचार्य के मध्य से बार-बार अपनी चितवन को दर्शकों पर परिलक्षित करती हुई मंथर गति से चल रही थी, अपनी राज-हंसिनी-सी गर्वित चाल में। हर पद-संचालन से उसका अंग-अंग थिरक उठता था।

भक्त भीड़ को चीरते हुए सभी प्रमुख कोष्ठक में आए। द्वार पर रजत शृंखला में लटक रहे स्वर्ण घंटे पर मालवेन्द्र ने "रव" किया। स्वर्ण घंटे पर लगे मणि-मुक्ता की आभा स्फटिक के फर्श पर बिखर गई, और एक साथ अनेक डमरू, घंटे, छत, फर्श और भित्ति पर झूलते परिलक्षित होने लगे।

आगे आकर हाथ जोड़ पुजारी ने नतमस्तक हो अपने सम्राट् का तथा आचार्य वररुचि का स्वागत किया। द्वार पर पुनः एक साथ—डमरू, झालर, शंख, तूर्य, आनक और आनद बज उठे। नगाड़े की मेघगर्जन-

सी ध्वनि से सारा प्रकोष्ठ गुञ्जित हो उठा। देव दासियों ने अपने सुमधुर राग में श्लोकों की ध्वनि की।

मालवेन्द्र विक्रम ने "नन्दा दीपक" में घृत अर्पण किया और एक क्षण ज्योतिर्लिङ्ग को अंक में समेट जयनाद... !

"वन्दे महाकाल महं सुरेशम्... !"

दासी के हाथों पर रखे पूजा-पात्र से बिल्व पत्र, अर्क, पुष्प तथा कमलदल उठा महाकाल को अर्पण कर मालवेन्द्र प्रांगण में आए एवं स्फटिक-पट् पर प्रियंगु मंजरी तथा आचार्य के साथ बैठ गए।

पुनः मृदंग फड़क उठी। वीणा के तरंगित स्वर के साथ ही साथ नर्तकियाँ थिरकने लगी। आज प्रदोष था, इसी कारण प्रदोष नृत्य में भगवान त्रिशूलि के ताण्डव की भाव-मुद्राओं को लेकर नर्तकियाँ दर्शकों को लुभाने में सफलता प्राप्त कर रही थी। दर्शक अपलक इन नर्तकियों के नृत्य-प्रदर्शन को देख रहे थे। संगीत में "सम" जिसे कहते है, वही सम यहाँ जुड़ चुका था। सभी आनन्द निमग्न झूम रहे थे।

इसी मध्य एक तरुण जन-समूह को चीरता हुआ नर्तकियों के मध्य आकर स्तब्ध खड़ा हो गया। नृत्य भंग हो गया। नर्तकियाँ सहमी दृष्टि से इस विचित्र व्यक्ति को देखने लगी। तरुण के फटे वस्त्र, घुटने तक कसी कछौटी एवं फटे वस्त्रों में से गौर, धूल-धुसरित पुष्ट शरीर झाँक रहा था। उसके शरीर पर काटों की खरोंच के चिन्ह स्पष्ट परिलक्षित थे। सिर की उलझी हुई काली केश माला ललाट से नीचे तक बिखर कर आधे मुख मंडल को छुपाने में तत्पर थी। उसकी नासिका द्वारा हो रहे द्रुत गति के श्वास-संचार से स्पष्ट था कि यह बहुत दूर से दौड़कर आया है। वह नवयुवक कभी नर्तकियों को और कभी अन्यों को निर्भय भाव से देख रहा था। इसने न मालवेन्द्र को अभिवादन किया न अन्य उपस्थितों को ही। सम्भवतः स्वतः भी नहीं जानता होगा कि वह इस जन-समुदाय को चीर

इस संगीतमय वातावरण में बाधक क्यों बना? उसके मुख पर बड़े विचित्र भाव थे; परन्तु आश्चर्य नहीं।

उपस्थित रसिकों को नव आगन्तुक तरुण का यह अभद्र व्यवहार अच्छा नहीं लगा। नृत्य-भंग भला किसे प्रिय था? नृत्य-भंग से रुष्ट एक राज्यकर्मचारी ने इस अभद्र नव आगन्तुक तरुण को अलग खींचा और कहा—

"देवालय की मर्यादा नहीं जानते, जो यहाँ अशुभ वेश में उपस्थित हुए?"

आगन्तुक नवयुवक किंकर्तव्य विमूढ़ था। उसे राज्य-कर्मचारी ने अत्यन्त कुपित होकर अलग खींचा था, इससे उसके सिर के रूखे बाल मुख पर आकर बिखर गए तथा उसके जीर्ण वस्त्र का कुछ भाग और भी फट गया। न जाने क्यों इस व्यवहार पर विक्रम के पार्श्व में बैठी राजकुमारी प्रियंगु मंजरी कसक उठी?..." अर्ध विक्षिप्त-सा व्यक्ति और मुख पर मध्यान्ह के भानुसा प्रकाश...? अचिन्त्य से नेत्र जिनमें चन्द्र सी शीतलता!! यह सौन्दर्यवान है, या स्वतः सौन्दर्य निर्माता!!! इस अव्यवस्थित शरीर में भी कितना आकर्षण है, कितनी मन मोहक छवि है इसकी?...और.....कुमारी अपलक देखती ही रही उस नव आगन्तुक तरुण को। और वह, अर्धविक्षिप्त सा किंकर्तव्य विमूढ़ भाव से देख रहा था, उस राज्यकर्मचारी की ओर।

राज्यकर्मचारी कह रहा था—

"मूढ़? इस अमंगल वेश में यहाँ क्यों आये? क्या देवालय की मर्यादा से अनभिज्ञ हो?"

स्वतः विक्रम को भी नव आगन्तुक तरुण पर प्रदर्शित राजकर्मचारी का अभद्र व्यवहार निकृष्ट लगा। उन्होंने कर्मचारी की भर्त्सना की—

"तुम कहाँ जानते हो मर्यादा? अवन्ती के विधान में तुमने यही

पढ़ा है कि दूसरों से अशिष्ट व्यवहार करो ? क्या भगवान महाकाल के आगंन में अब भी अविवेकी रहते हैं ?"

मालवेन्द्र के नेत्रों में क्रोध चमक रहा था; परन्तु वाणी में कोमलता थी।

राज्य कर्मचारी लज्जित हो, अपने शरीर को आधा झुकाए कर-बद्ध खड़ा हो गया। सम्राट ने अपनी पूर्ण दृष्टि से एक क्षण उस तरुण को देखा और बोले—

"कहो, वयस्य ? यहाँ क्या अभिलाषा लेकर आये हो ?"

"—एँ...ऐसे ही... ।" वह विक्षिप्त सा ही बोला। उसके बड़े-बड़े नेत्र मालवेन्द्र विक्रम के नेत्रों से मिल चुके थे।

"तुम्हारा शुभ नाम ?"

"मेरा ?"

"हाँ, हाँ, तुम्हारा ही ?"

"मुझे सभी जड़, मूढ़ और मूर्ख, और ... बस यही कहते हैं ?"

इस वक्तव्य पर उपस्थित जन हँस पड़े; परन्तु सम्राट विक्रम के व्यक्तित्व के कारण सभी ने अपने आप पर नियंत्रण कर लिया। सम्राट नहीं हँसे। उन्होंने उस पर दया दृष्टि की, पूछा—

"तुम क्या करते हो ?"

"मैं, पशुपाल हूँ, गऊएँ चराता हूँ !"

"हमारे हर्म्य में सेवा करोगे ?"

"—एँ—हाँ, ... अवश्य ?"

सम्राट मुस्कराए—"तो, जाओ स्वयंभू के दर्शन कर शीघ्र आओ। हम तुम्हें अपने साथ लेंगे।"

वह तरुण प्रमुख-कोष्ठक में चला गया। प्रांगण में नृत्य भंग होने से देव दासियाँ वहीं मालवेन्द्र की आज्ञा की प्रतीक्षा में, उनके प्रखर मुख

पर दृष्टि केन्द्रित किए खड़ी थी। सम्राटने उन्हें जाने का संकेत किया। वे अपने-अपने स्थान पर चली गईं।

कुछ क्षण पश्चात एक सेवक ने सम्राट विक्रम को आकर सूचना दी कि वह तरुण कोष्ठक के पीठ-मार्ग से भाग गया है।

मालवेन्द्र विक्रम कुछ हँसे और अनायास ही उनके मुख से भर्तृहरि के शब्द उद्धृत हो उठे—

"अज्ञानी सुख से सध जाता है और ज्ञानी अति सुख से; परन्तु अल्पज्ञ नर को ब्रह्मा भी नहीं साध सकता।"

# २

## राज्य-प्रासाद में

प्रदोष की वृहत्-पूजन से निवृत्त हो प्रियंगु मंजरी मालवेन्द्र विक्रम के साथ राज्य-प्रासाद में आई। आज महाकाल-प्रकोष्ठ से ही न जाने क्यों उसका हृदय अशान्त हो गया था। वह उदास थी। महाकाल-प्रकोष्ठ में उस नव-आगन्तुक तरुण पर किए गए राज्य कर्मचारी के अशिष्ठ व्यवहार से उसे अत्यन्त क्षोभ हो रहा था। हर क्षण उसके आगे उस अबोध तरुण की आकृति आ जाती—वही बिखरी लट, सौम्य मुख, सूर्य-सा ज्वाजल्यमान् शरीर। और वह आकर्षक छवि लाख प्रयत्न करने पर भी नेत्रों से ओझल नहीं होती थी। कितनी ही बार प्रियंगुमंजरी ने उस आकृति को भुलाने का प्रयत्न किया; परन्तु वह आकृति अन्तर्हित होने का नाम ही न लेती थी। जैसे वह कुमारी प्रियंगुमंजरी के नेत्रों में आकर स्तम्भित हो गई हो। वह पर्याप्त समय तक उसी तरुण के सम्बन्ध में न जाने क्या-क्या सोंचती रही; परन्तु वह यह सब क्यों सोंच रही थी? उस तरुण पर उसका आन्तरिक आकर्षण इतना क्यों बढ़ रहा था? वह स्वयं भी नहीं जान पा रही थी।

प्रियं विचार-विशृङ्खला निबद्ध-सी अपने कक्ष के झरोखे में खड़ी दूर अम्बर में फहरा रही महाकाल के विशाल प्रकोष्ठ की पताका को निर्निमेष

दृष्टि से देख रही थी। इसी मध्य माहराज विक्रम भी कक्ष में आए। उन्होंने वात्सल्य से प्रियं के मस्तक पर हाथ फेरा, बोले—

"बेटी! किन दार्शनिक तत्त्वों को विन्दु बनाकर इस प्रकार विचार-निबद्ध नीरव कक्ष में अकेली बैठी हो?"

कुमारी सहम उठी। अपनी चंचल-चितवन से उसने सम्राट के मुख पर पड़े भावों को न जाने कब पढ़ लिया था; वह नत-मस्तक हो खड़ी रही। लज्जावश उसका मनसिज-सा मुख अरुण हो उठा था।

सम्राट पुनः बोले—"प्रियं! तुम्हारी इसी दार्शनिक प्रकृति से प्रभावित हो आचार्य प्रवर वररुचिजी ने तुम्हें धर्म, उपनिषद् एवं शास्त्रों की आध्यात्मिक शिक्षाएँ देने का कार्य भार स्वतः अपने सिर लिया है! तुम्हारा उनसे स्नेह भी है—पढ़ोगी न उनसे?

सम्राट के इन स्नेहयुक्त शब्दों को सुन प्रियंगुमंजरी का मुख एकदम सूर्यमुखी के फूल के समान प्रफुल्ल हो उठा। पण्डितों की बक-विद्या से वह रुष्ठ भी थी। हर्ष से परिपूर्ण स्वरलहरी फूट उठी प्रियं के मुख से—

"आचार्य प्रवर मुझे शिक्षा देंगे—दर्शन की?

"हाँ, हाँ पुत्रि! स्वतः उन्होंने अपने मुख से ही ऐसा कहा है। तुम भी तत्पर हो न—?"

"यह मेरा सौभाग्य है!"

"तो फिर कल प्रातः सर्व क्रियाओं से निवृत्त हो तत्पर रहना। आचार्य कल प्रातः से ही तुम्हें शिक्षा देने आएँगे!"

और मालवेन्दु विक्रम अपनी स्नेहिल दृष्टि से प्रियंगुमंजरी को देखते हुए कक्ष के बाहर हो गए। अभी-अभी कुछ क्षण पूर्व प्रियं एक संवेदक-विचार विशृङ्खला में खोई हुई थी, अब इस हर्ष के बोझ से दब गई। स्वतः आचार्य वररुचि जी धर्म एवं दर्शन की शिक्षा देंगे। यह उसके लिए अत्यन्त हर्ष एवं गौरव का विषय था।

# ३

## आचार्य वररुचि और प्रियंगुमञ्जरी

प्रतिदिन आचार्य वररुचि जी प्रियंगुमंजरी को धर्म एवं दर्शन की शिक्षा देने आने लगे। आचार्य वररुचि कोरे नीतिज्ञ ही नहीं थे; वे एक अच्छे कवि तथा ज्योतिष शास्त्र के विद्वान थे। उन्होंने स्वयं काव्य-मय अनेक ग्रन्थों का निर्माण भी किया था। इनके सानिध्य से प्रियंगुमञ्जरी अल्पकाल में ही अनेक विषयों में पण्डिता हो गई। वह अब आचार्य से भाँति-भाँति के तर्क युक्त प्रश्न पूछा करती। कभी-कभी तो वह ऐसे प्रश्न कर बैठती थी कि स्वयं आचार्य भी निरुत्तर हो उठते। प्रियंगुमञ्जरी में विद्या ग्रहण करने तथा रहस्य मय विषयों को खोजने का तथा उस सम्बन्ध में आचार्य से तर्क-वितर्क करने का एक प्रकार से व्यसन-सा हो गया था। वह सदैव ग्रन्थों में उलझी रहती थी।

नियमानुसार जब आज आचार्य वररुचि पधारे, तब प्रियंगुमञ्जरी अपने कक्ष में बैठी किसी विषय का अध्ययन कर रही थी। उसने आचार्य का स्वागत कर उन्हें आसन दिया। प्रसन्न वदन हो आचार्य बोले—

"पुत्रि! तुम आज स्वयंभू के प्रकोष्ट में प्रदोष-पूजन में उपस्थित नहीं हुई? आज तो तुम्हारा अभीप्सित प्रदोष नृत्य का आयोजन था!"

"हाँ, देव !" कुमारी कुछ गम्भीर हुई—"अब मुझे प्रदोष-नृत्य में रुचि नहीं।"

"भला क्यों ?"—आचार्य ने आश्चर्य में भर कर प्रियंगुमंजरी पर दृष्टि पसारी।

"उस 'नृत्य-पूजा' को अब भक्ति-साधन कम और मनोरञ्जन की एकमात्र झाँकी समझ लिया गया है।"

आचार्य मुस्कराये—"भला यह तुमने कैसे जाना ?"

"यह तो आपकी स्मृति में भी होगा आचार्यवर, कि बहुत दिन पूर्व एक प्रदोष-नृत्य में—कोई अबोध नवयुवक अकस्मात् ही देवदासी-नर्तकियों के मध्य आ खड़ा हुआ था। और किस प्रकार नृत्य-भंग से रुष्ट एक भावुक कर्मचारी ने उसे अमानुषिकता से एक ओर घसीटा था; क्या देव ! इस व्यवहार में भक्ति की मात्रा थी ? या मनोरञ्जन भंग से प्रत्युत्तर कटु-क्रोध—!" कुमारी के चक्षु कुछ तने साथ ही पुनः ओंठ कुछ फुसफुसाए—"...और वह भोला...तरुण...!"—और एक मन्द निःश्वास के साथ भावुक हो उठी राजकुमारी।

आचार्य वररुचिजी कुमारी प्रियं के भावुक मुख और अर्धोन्मीलित नेत्रों को देख अकस्मात् ही अट्टहास कर उठे—

"तो अभी भी वह अर्धविक्षिप्त तरुण तुम्हारी स्मृति में है—!"

"हाँ, देव ! और जब तक रहेगा, जब तक कि...।" और तत्काल ही प्रियं ने अपने आपको नियंत्रित कर लिया। आवेग में वह अपनी दुर्बलता प्रगट कर चुकी थी। विषयान्तर कर बोली—"क्या देव, वास्तव में ही वह अर्धविक्षिप्त था ? उसके मुख पर एक दिव्य प्रतिभा की रेखा आपने नहीं देखी ! और यदि वह विक्षिप्त था भी, तो क्या विक्षिप्त तिरस्कार के ही पात्र होते हैं ? योगीराज वैताल तो कहते हैं; उनका विज्ञान विक्षिप्त को विद्वान और विद्वान को विक्षिप्त में परिवर्तित कर सकता है—!"

"साधु, साधु ! पुत्री, इसी करुणा ने तुम्हें दार्शनिकत्त्व प्रदान किया है। और इसी से तो तुम हर विषय में भावुक हो उठती हो।"

"देव ! मेरी यह भावुकता आपकी दृष्टि में कुछ मूल्य रखती है, या नहीं—?"

आचार्य को मुस्कराते देख कुमारी ने विचित्र-सा प्रश्न किया।

"पुत्री ! तुम्हारी इस भावुकता ने ही मुझे तुम्हें शिक्षा देने को बाध्य किया है। तुम्हारी भोली बातों में वह मधुरस है, जो मुझे कहीं भी प्राप्त नहीं। तुम्हारे तर्कों में निःसन्देह विद्वत्ता की पुट रहती है, जो सदैव सराहना के योग्य है ! तुम्हारे समान ही तुम्हारे पिताजी भी भावुक ही हैं, और इसी भावुकता ने उन्हें न्यायप्रिय बनाया है। मैंने अनेक बार उन्हें प्रछन्नवेष में नगर में यत्र-तत्र घूमते हुए देखा है। वे इसी प्रकार अपने साम्राज्य की गति-विधि का निरीक्षण करते हैं। और पाई गई त्रुटि का निराकरण भी ! यही कारण है कि उन्होंने हर विषय के ज्ञाताओं को दूर-दूर देशों से आमंत्रित किया है; जो उज्जयिनी की राज्यसभा के एक विशेष अंग बन कर अनेक सार-गर्भित विषयों का अनुसंधान करेंगे एवं उन्हीं पर अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया जाएगा।—निःसन्देह मालवेन्द्र राजाराम के समान ही युगों तक जन-मानस पर राज्य करेंगे।"

स्वयं आचार्य भी कहते-कहते भावुक हो उठे थे।

"कभी-कभी मैंने उन्हें अत्यन्त ही चिन्तातुर होते देखा है। क्या पूज्यवर, यह उनकी भावुकता ही है ?"

"नहीं पुत्री ! यह दूसरी बात है।"

आचार्य गंभीर हुए—"एक विशाल साम्राज्य के साथ कितनी अनेक समस्याएँ क्षण-प्रतिक्षण बनती और अदृश्य होती है इसका अनुभव एक विशाल साम्राज्य संचालक ही कर सकता है। शकों का दमन कर देने मात्र से ही तुम्हारे पिता स्वतंत्र नहीं हो गये हैं। राज्य-नीति एक ऐसा जाल है कि इसमें उलझा मनुष्य यावत्‌जन्म सुलझ नहीं पाता। और

यही कारण है कि तुम्हारे पिताजी इससे जितना मुक्त होना चाहते हैं उससे अधिक इसके पथ में बँध रहे है।"

"यह राजनीति है क्या?"

—प्रियंगुमंजरी पुनः भावुक बनी।

"एक मोह!"—और आचार्य मुस्कराए—"इसके सम्बन्ध में अधिक जानना अभी तुम्हें उचित भी नहीं; क्योंकि यह अन्धकार भी है। "और इस अन्धकार में प्रवेश करने के प्रथम तुम्हें अपने पिता के समान ही दक्ष हो जाना अनिवार्य है।"

"तब तो मैं इस विषय का भी अध्ययन करूँगी।"

प्रियंगुमञ्जरी की जिज्ञासा इस ओर बढते देख आचार्य मुस्कराये और बोले—

"प्रियं! इस नीति में जितना आकर्षण है उतना निज का वैभव नहीं। और यही कारण है कि कूट-नीति को भी यह साथ लिए है। करुण हृदय का मनुष्य इसमें कभी भी सफल नहीं हो सकता। और तुम दयालु हो। राज्यकर्मचारी का उस नव-आगन्तुक युवक पर प्रदर्शित तनिक-सा कठोर व्यवहार, अभी तक तुम्हारी स्मृति में चढ़ा हुआ है। अभी-अभी ही तुम दयार्द्र हो उठी थी। फिर इस नीति के अध्ययन के हेतु हृदय पाषाण के समान कठोर चाहिए। भला क्षण-क्षण में द्रवित हो जाने वाली तुम, इसके लिए कहाँ तक योग्य हो, तुम्हीं कहो?"

—और आचार्य ने प्रश्न का निराकरण स्वयं प्रियंगुमंजरी से करवाने के अभिप्राय से उसके मुख पर दृष्टि पसारी; परन्तु प्रियंका ध्यान आचार्य के प्रश्न पर कहाँ था? नव आगन्तुक अर्धविक्षिप्त की स्मृति चेतन होते ही वह पुनः अपने आप में खो गई थी। और इस महत्व को प्रियं का दार्शनिकत्व जान, आचार्य मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे...।

## ४

# आचार्य वररुचि और पशुपाल

आचार्य वररुचि एक अच्छे वैद्य भी थे। एक दिन महाकाल कान्तार में औषधि खोजते-खोजते वह बहुत दूर निकल गए। कुछ जड़ी-बूटियाँ भी प्राप्त की।

कान्तार दूर तक विस्तीर्ण था। पर्याप्त समय तक घूमते हुए आचार्य मार्ग भूल गए। मार्ग खोजने पर भी नहीं मिल रहा था। नगर-मार्ग के कोई चिन्ह नहीं, बड़ी समस्या बन गई।

सूर्य अस्ताचल को चला जा रहा था। दिन भर इधर उधर भटकने से आचार्य अत्यन्त ही थक कर शिथिल हो गए थे। तृषा से उनका कण्ठ सूखा जा रहा था। आचार्य के लिए इस प्रकार का अवसर कभी नहीं आया था; परन्तु होनहार को कौन टाल सकता है?

प्यास मिटाने के लिए उन्होंने अनेक बार अपनी जिह्वा सूखे ओठों पर फेरी। विह्वल होकर वृक्षों में लगी कोमल कोपलें चाबाईं, परन्तु इससे कब तक सन्तोष मिलता? चारों ओर भटक लेने के बाद निराश हो एक वृक्ष की छाया में स्वयंभू का नाम स्मरण करते हुए बैठ गए—वही एक सहारा था।

. दैव संयोग से आचार्य को दूर कहीं काष्ठ काटने की ध्वनि सुनाई दी। ध्वनि के सहारे वे उसी दिशा में चल पड़े कुछ दूर पर हरे-भरे मैदान में गायें चर रही थीं, कुछ बैठी जुगाली कर रही थीं। नन्हें-नन्हें बछड़े यत्र-तत्र मृग-शावक सी चौकड़ी भर रहे थे। एक व्यक्ति जो सम्भवतः ग्वाला होगा, ऊँचे वृक्ष पर बैठा वृक्ष-शाखा काट रहा था। आचार्य के हृदय में आशा का संचार हुआ। वे उस वृक्ष के निकट पहुँचे। आचार्य ने ऊपर देखा तो, आश्चर्य हुआ—वह व्यक्ति जिस शाखा पर बैठा था, उसी को काट रहा था। शाखा लगभग आधी कट चुकी थी।

व्यक्ति निःशंक, बेधड़क कुठार से प्रहार पर प्रहार किए चला जा रहा था। आचार्य को उसकी बुद्धि पर करुणा हो आई। बोले—

"वयस्थ! यह क्या कर रहे हो?"

"ऐं-ऐं...?" काष्ठ काटना बन्द हुआ।

"तात, इस प्रकार काष्ठ नहीं काटते तनिक नीचे तो उतरो।"

वह व्यक्ति आचार्य को विचित्र भाव से देखने लगा; परन्तु बोला कुछ नहीं।

"वत्स! नीचे तो आओ!"

आचार्य की वाणी में कोमलता थी। वह कुल्हाड़ को कन्धे पर रख नीचे उतरा। उसके मुख पर स्वेद-बिन्दु चमक आए थे।

एक क्षण आचार्य ने उसके शरीर एवं मुख का अवलोकन किया—देखा; व्यक्ति तरुण है, केश-कुन्तल काले, रूखे अव्यस्थित थे। शरीर पुष्ट एवं गठीला वर्ण-गौर, भुजाएँ लम्बी, सुन्दर-सा मुख, तेजस्वी चक्षु। आचार्य की यह आकृति परिचित-सी प्रतीत हुई। वे सोच रहे थे, सम्भवतः इसे मैंने कहीं देखा है? पर कहाँ—? विस्मृति में थे। वे बोले—

"वत्स! मुझे तृषा है। जल मिलेगा कहीं?" आचार्य तृषा से व्याकुल हो उठे थे।

"इस कान्तार में दूर-दूर तक जल नहीं मिलता।" उसने अपने सूखे केशों में उंगलियाँ फेरते हुए अल्हड़पन से कहा।

"तुम किस प्रकार दिन व्यतीत करते हो? तुम्हें प्यास नहीं लगती?"

आचार्य को आज प्रथमबार कान्तारजीवियों के कठोर जीवन की कल्पना हुई।

"लगती है; परन्तु बार-बार नहीं?"

"फिर क्या करते हो, तात!"

"रुद्र सागर पर पहुँच जाता हूँ।"

"रुद्रसागर यहाँ से कितनी दूर है?"

"लगभग एक कोस!"

"कृपा कर मुझे उज्जयिनी का मर्ग दिखादो!"

—आचार्य व्याकुल होते चले जा रहे थे।

"जल नहीं पिएँगे?"

"परन्तु है कहाँ?"

"आपको प्यास लगी है न?"

"हाँ, बड़ा विकल हो रहा हूँ!"

"तो, गाय का दूध ही पी लीजिए?"

—वह एक सुन्दर सी गाय के निकट पहुँच गया जो अपनी पूँछ चँवर के समान हिला रही थी।

"आइए?"

आचार्य वररुचि उसके निकट आ गए। तरुण कान्तार-वासी ने गाय की पीठ पर हाथ फेरा; पुचकारा।

"इसके बछड़े का क्या होगा?"

"—आप चिन्ता न कीजिए। यह गाय पर्याप्त दूध देती है, बछड़े और स्वामी को कोई हानि न होगी।" आचार्य को कुछ सोचता देख उसने पुनः आग्रह किया—

"आइये न, आप कर-चण्डी बना कर बैठ जाइये। गाय सीधी है लात नहीं मारती।

"तात, "करचण्डी" क्या होता है? आचार्य ने विस्मित होकर पूछा।

दोनो हाथों से अँजलि बना कर वह बोला—"ऐसे!"

आचार्य वररुचि भी विस्मित हो हँसे। कुछ लज्जित भी हुए, क्योंकि "करचण्डी" शब्द का अर्थ उन्हें पशुपाल से पूछना पड़ा।

वे तृषा से बहुत व्याकुल हो रहे थे। अस्तु ग्वाले के निर्देशानुसार करचण्डी बना कर गाय के नीचे बैठ गए। तरुण पशुपालने गाय के स्तनों से दुग्ध-धार निकालना आरम्भ किया। गाय सीधी थी, उसने तनिक भी आपत्ति प्रदर्शित नहीं की।

आचार्य अधिक दूध न पी सके। रुक कर बोले—"बस तात! पर्याप्त रहा!" और उठ खड़े हुए। कृतज्ञ दृष्टि से पशुपाल की ओर देखते हुए उन्होंने पूछा—

"वत्स, तुम्हारा शुभ नाम?"

"मुझे मेरा स्वामी और सभी मूर्ख कहते हैं!"

"वह सभी मूर्ख है, तुम नहीं। जिसके अन्तस्तल में दया है, वह मूर्ख नहीं; ज्ञानी है?" और आचार्य मुस्कराए—"तुम तो मेरे गुरु हुए, करचण्डी जो मुझे बताई है?"

वह आचार्य के सौम्य मुखमण्डल पर एक टक दृष्टि टिकाए रहा। आचार्य ने उसे अपरिमित सम्मान दिया। उसके हृदय में आचार्य के प्रति आस्था उत्पन्न हो उठी थी।

"आप नगर जाएँगे न ?"

—आचार्य को जाने को उद्यत देख वह बोला।

"हाँ, तात मुझे आश्रम की चिन्ता है।"

"तो मेरे साथ चलिएगा न, मैं अपनी गौएँ समेट लूँ। मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा है; आप पुनः भटक जाएँगे!"

आचार्य पुनः कृतज्ञ हुए। उसने गौएँ समेट ली और आचार्य को साथ ले नगर-मार्ग पर अग्रसर हुआ।

# ५

## आचार्य का श्राप

आज आचार्य वररुचि खिन्न से प्रतीत हो रहे थे। उनके विशाल मुख मण्डल पर उदासी छा रही थी। नीले, तीखे चक्षुओं में क्रोध छलक रहा था।

आचार्य द्रुत गति से राज-रथ्या पर चरण पादुका से प्रहार करते चले जा रहे थे। बार-बार कौशेय-वस्त्र आचार्य के खुले गौर कन्धों से नीचे को खिसक आता था और वे बार-बार उसे सम्हाल रहे थे।

मार्गपर गमन करने वाले अनेक नागरिक-गण उन्हें अभिवादन करते थे, जिसका आज उन्हें कोई ध्यान नहीं था। वे अपनी गति से खड़ाऊ चटकाते प्रमुख हर्म्य की ओर अग्रसर हो रहे थे।

कल राज्य सभा में नव आगन्तुक विद्वान ज्योतिषी के समक्ष उनके कुछ तर्क फीके हो रहे थे। उन्हें ऐसा स्वयं अनुभव हो रहा था। यह क्रोध, यह खिन्न मुद्रा; यह उदासिनता उसी का परिणाम थी।

नगर में स्थान-स्थान पर यही चर्चा थी कि महाराज विक्रमादित्य

की सभा में कल एक कार्तान्तिक आए हैं, जो समीप के ही ग्राम कपित्थ के निवासी हैं।

किसी ने कहा—उन्हें सूर्यदेव ने ज्योतिष वरदान में दिया है। सूर्य-सा ही प्रखर तेज है, वैसाही रूप भी।

उन कार्तान्तिक ( ज्योतिषी ) का नाम बराहमिहर था। इनका कद लम्बा, वर्ण गौर सूर्य के समान तेजस्वी मुखमण्डल था। इनके पिता आदित्यदास भी महाराज गर्दभिल्ल के समय के ख्याति प्राप्त ज्योतिषी थे।

"पिता से भी बढ़कर पुत्र यशस्वी निकले।"—

चौपाल पर बैठा एक वृद्ध लोगों को इन्हीं कार्तान्तिक के बालपन की एक घटना सुना रहा था—"कल आए कार्तान्तिक भूत, भविष्य और वर्तमान सभी अच्छा जानते हैं। बाल्यकाल से ही विलक्षण है। एक बार जंगल में शिला-खण्ड पर बैठे-बैठे ही शिला पर एक कुण्डली बना डाली और अपने निवास-स्थान पर चले आए। रात्रि को शयन के पूर्व स्मृति आई—वह अन्धेरी रात्रि में दौड़ते हुए उस स्थान पर पहुँचे जहाँ वह कुण्डली बना आए थे। जिस शिला पर ये कुण्डली बना आए थे उस पर सिंह बैठा हुआ था। ये डरे नहीं, क्योंकि अपने भविष्य के सम्बन्ध में ये अच्छी तरह जानते थे। सिंह के पास चले गए और उसके पेट के बीच में हाथ डाल अपनी कुण्डली को मिटा आए।"

एक ने इस बात को और बढ़ाया। कहने लगा—

"वह सिंह नहीं था, स्वयं सूर्य देव थे, जो सिंह के रूप में बराहमिहरजी की परीक्षा लेने शिला-पर आ बैठे थे। बराहमिहर का अदम्य साहस और ज्योतिष पर निष्ठा देखकर प्रसन्न हुए और वर माँगने को कहा। बराहमिहरजी ने नक्षत्र और ग्रहों के प्रत्यक्ष में दर्शन कराने की अभिलाषा व्यक्त की। सूर्य देव ने उन्हें साथ ले जाकर सब दिखलाया और तभी तो वे ऐसे विद्वान है।"

इस पर एक बोला—

"अरे, यह वही तो विद्वान है, जिन्होंने सम्राट के राज्य-तिलक समारोह के दिन विक्रम-सम्वत् का शुभारम्भ किया था। भला इन्हें कौन नहीं जानता। अब तो ये सम्राट के आग्रह से उज्जयिनी में ही निवास करेंगे।"

इस प्रकार की चर्चाएँ नव आगन्तुक यशस्वी विद्वान के सम्बन्ध में स्थान-स्थान पर चल रही थी।

इन्हीं यशस्वी विद्वान के समक्ष आचार्य वररुचि के एक दो ज्योतिष सम्बन्धी तर्क निराधार प्रतीत हुए थे। और इसी कारण आज आचार्य कुछ खिन्न थे।

आज आचार्य वररुचि सम्राट विक्रमादित्य से मिले बिना ही प्रियंगु-मंजरी के अध्ययन कक्ष में आए।

*प्रियंगुमंजरी प्रतीक्षा में ही बैठी थी, खड़ी हो अभिवादन किया—* "पूज्यवर, प्रणाम!"

आचार्य का वरद-कर आज शुभाशीश के लिए नहीं उठा। "सुखी रहो"—इतना कह वे आसन्दी पर बैठ गए।

प्रियंगुमंजरी भी अपना कुशासन पार्श्व में डाल बैठ गई। आज आचार्य ने प्रियं को बैठने के लिए भी नहीं कहा। वे गवाक्ष के बाहर दूर चमकते हुए महाकाल-महालय के शिखर को निर्निमेष दृष्टि से देख रहे थे।

प्रियं ने मौन भङ्ग करते हुए आचार्य से पूछा—"पूज्यवर! आज खिन्न प्रतीत होते हैं!"

"हाँ।" आचार्य ने कृत्रिम हँसने का प्रयत्न किया—"ऐसी ही उदासीनता आ गई थी।"

"उदासीनता का कारण जान सकती हूँ क्या देव!"

आचार्य इस प्रश्न पर कुछ मन में झुँझलाए, वे आज व्यर्थ की चर्चा नहीं करना चाहते थे; परन्तु प्रियंगुमंजरी को कुछ तो समाधान करना ही था। बोले—

"बेटी! एक अद्भुत प्रयोग के लिए कान्तार से बड़े परिश्रम के बाद जड़ी-बूटियाँ जुटा कर, वह आलन्द में सूखने को रखी थी। कोई लम्पट ले गया।"

"बस यही...।" प्रियंगुमंजरी एकाएक जोर से खिल-खिला उठी।

प्रतिदिन आचार्य को जो हँसी सुखकर प्रतीत होती थी, आज वही हृदय में चुभ गई। आचार्य के चक्षु तनें, भृगुटी खिंच गई—

"प्रियं, तू मेरा अपमान कर रही है।"—आचार्य का क्रोध फूट पड़ा।

प्रियंगुमंजरी ने आचार्य की क्रोध-युक्त मुद्रा देखी, तो वह सहम गई। आचार्य ने उस पर कभी क्रोध नहीं किया था।

"पूज्यवर, अपराध क्षमा हो! मुझमें आचार्य का अपमान करने की क्षमता नहीं। अकारण ही हँस उठी...।"

प्रियं की कोमल वाणी, अवनीतल दृष्टि एवं भोले मुखमण्डल ने आचार्य को पिघला दिया।

"नहीं बेटी, नहीं!" आचार्य बोले—"तू सुशील है। आज मैं हृदय की उदासीनता से निर्बल हो रहा हूँ—तू मेरे क्रोध पर तनिक ध्यान न देना।"

—और आचार्य ने प्रियं के मस्तक पर दुलार का हाथ फेरा।

इन शब्दों के साथ कक्ष में नीरवता बनी रही। कुछ क्षण उपरान्त प्रियं ने पुनः मौन भंग किया। बोली—

"देव! मैं आज आपसे कुछ धर्म-सम्बन्धी प्रश्न पूछना चाहती थी।"

"पुत्री! पूछो न—!"

"मेरे मन में आज युग में चल रहे वातावरण को देखते हुए एक विवाद-सा मच रहा है। सदैव सोचती हूँ, बहुत सोचती हूँ; परन्तु उसका निराकरण नहीं कर पाती। और सदैव आपसे भी पूछ लेने का विचार करती हूँ; परन्तु साहस नहीं होता।"

"पूछो भी तो!"—आचार्य ने कहा।

"यही धर्म सम्बन्धी! आखिर वैष्णव धर्म में ऐसी कौन सी हीनता है कि दिन प्रतिदिन अधिक मात्रा में लोग जैन और बौद्ध धर्मों में दीक्षित होते चले जा रहे हैं?"

आचार्य मुस्कराए—

"बेटी! धर्म कोई भी हीन या दुर्बल नहीं होता। सर्व धर्म एकही सीमा, एकही मार्ग पर मनुष्य को प्रेरित करते हैं। दुर्बलता अथवा हीनता तो मनुष्य की निर्बलता है, जो स्थिर नहीं रहता...।" आचार्य कुछ रुके और बोले—

"मूर्ख मनुष्य अपने आप में शान्ति नहीं खोजता, दूसरों से शान्ति की याचना करता है। और दूसरे शान्ति देते हैं, अपनी मुद्रा लगाकर अर्थात् धर्म परिवर्तन कराकर। यह वास्तविक शान्ति नहीं—धर्म विनिमय है, व्यापार है।"

"तो, पूज्यवर! महात्मा महावीर और भगवान् बुद्ध क्या धर्म के व्यापारी ही थे।"

आचार्य रुष्ट हुए—क्योंकि वह स्वतः ही बुद्ध और महावीर के आदर्शों के सुन्दर से सुन्दर उद्धरण द्वारा प्रियं को शिक्षा दिया करते थे। हर विषय पर वे बुद्ध के आदर्श को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते थे। बोले—

"तू प्रत्येक विषय को विपरीत देखती है। यह सब तेरी बाल सुलभ चंचलता ही है। और कुछ नहीं।"

"तो क्या मैं उत्तर से वंचित रहूँगी?"

—प्रियं मुस्कराई।

"प्रत्येक प्रश्नों के उत्तर होते हैं; परन्तु इस प्रश्न का उत्तर तुम्हारी बुद्धि के परे है।"

—आचार्य ने विषय स्तब्धता के लिए यह शब्द कहा क्योंकि उनका मस्तिष्क इस ओर केन्द्रित नहीं था।

परन्तु प्रियंगुमंजरी पुनः बोली—

"कल तो आप कह रहे थे कि तू बुद्धिमान है। पिता के समान विचक्षण बुद्धि की है और आज...।"

आचार्य पुनः रुष्ट हुए—"प्रियंगुमंजरी! आज तू मेरा अपमान करने का निश्चय ही कर चुकी है।"

आचार्य आज ऐसे ही प्रथम रुष्ट थे। और प्रियं के अनवरत प्रश्न, जिनमें शैशव का व्यंग ही था; आचार्य की रुष्टता में मानसिक क्लेश का कारण बन गए। जिन भोले व्यंगात्मक प्रश्नों में आचार्य को सुख मिलता था; उसी में उन्हें आज अभद्रता तथा अशिष्ठता परिलक्षित हुई, और उन्होंने प्रियं को डाँट दिया—उनका मुख उगते रवि से भी अधिक लाल हो चुका था।

"नहीं कृपानिधे! यह धृष्टता मुझमें नहीं।" प्रियं सहमी।

"फिर यह क्या है?"

"मैं तो आपके दृष्टिकोण में सर्वधर्मों के प्रति सिद्धान्त जानना चाहती थी।"

—प्रियं मन्द-मन्द मुस्कराई।

"गुरु की परीक्षा लेने का दुस्साहस किया तूने!"—

आचार्य की भृकुटी तन गई—"धर्म क्या है, और उसके क्या रहस्य है—इस पर तूने कभी अध्ययन भी किया है? इस रहस्य को जानने का प्रयत्न भी किया है? वैष्णव, जैन और बौद्ध क्या धर्म है? तू मतों को धर्म में प्रतिपादित कर मुझे भ्रांत सिद्ध करने का दुस्साहस करती

है ! आज के तेरे हर प्रश्न मूर्खता पूर्ण ही है—तुझे पशुपति पशुपाल ही वर दें। तू उसी से ऐसे प्रश्न करना और उसी की परीक्षा लेना।"

क्षमा करे गुरुदेव, मेरी भावना जरा भी अवमानना की नहीं है मुझे आपका यह अभिशाप भी वरदान हो। प्रार्थना है आपके रोष में भी मुझे योग्य वर मिलने का संकेत ही है।

आचार्य सहसा सरोष उठ खड़े हुए, उस समय उनका मुख ताम्र वर्ण हो रहा था।

प्रियं किंकर्त्तव्य विमूढ़ थी।

"खट-खट-खट"—खड़ाऊ चटकी आचार्य की। प्रियंगुमंजरी हत:प्रभ हुई।

"आचार्य प्रवर...!"

परन्तु आचार्य कोष्ठक के बाहर हो चुके थे।

## ६

# प्रियं का पश्चाताप

प्रियंगुमञ्जरी करने को तो अनजाने ही आचार्य का व्यंग कर गई; परन्तु उनके कोष्ठक के बाहर जाते ही वह दुःखी हो उठी। उसके मस्तिष्क में अनेक विचार उठने लगे—

यह मैंने अच्छा नहीं किया। सत्य है, जब तुच्छ व्यक्ति को थोड़ा-सा ज्ञान आ जाता है, तो वह ज्ञानियों का अपमान करने को उद्यत हो जाता है। हाय, कैसी नीचता है? मैंने यह भी नहीं सोचा कि आज आचार्य उद्विग्न है, उन्हें छेड़ती ही गई।''

यह प्रथम अवसर था कि आचार्य उस पर इस प्रकार रुष्ट हुए थे। प्रियं सोचती रही। पश्चाताप के आँसू बहने लगे। वह सिसकियाँ भरती वहीं असन्दी पर सो गई।

प्रियं के अध्ययन-काल में दासियाँ कोष्ठक में नहीं आती थीं। आचार्य के चले जाने के पश्चात् भी वह पर्याप्त समय तक अध्ययन किया करती थी।

निश्चित अध्ययन मुहूर्त समाप्त होते ही कुछ दासियाँ कक्ष में आईं।

उन्होंने देखा और ठगी-सी रह गईं—कुमारी आसन्दी पर पड़ी सिसक रही थी। पुस्तकें अस्त-व्यय बिखरी पड़ी थीं। किसी का भी साहस नहीं हुआ कि प्रियं से कारण पूछे; क्योंकि उन्होंने उद्विग्न मुद्रा से आचार्य को जाते देखा था। वह सम्राट को ही यह समाचार देना उचित समझ विक्रम के समक्ष गई।

विक्रम अपने प्रकोष्ठ में बैठे आगन्तुक विद्वान् वराहमिहर से कुछ चर्चा कर रहे थे।

एक दासी ने आगे आ सादर नत मस्तक हो कहा—"महाराजाधिराज! कुमारी आज कुछ अस्वस्थ है।"

"क्या हुआ है उसे?"—सम्राट अधीर हुए। दासी ने आगे कहा—

"आचार्य के चले जाने के बहुत देर पश्चात् जब हम कोष्ठक में गईं तो देखा—कुमारीजी कुशासन पर पड़ी सिसक रही है। जाते समय आचार्य की मुद्रा भी उद्विग्न हो रही थी।"

"उद्विग्न हो रही थी?" सम्राट और भी अधीर हुए—मेरा वाम नेत्र भी फड़क रहा है।" और सम्राट उठ खड़े हुए। उन्होंने आचार्य वराहमिहर से निवेदन किया—"चलिए देव! आप भी उसे देखना चाहते थे न!"

सम्राट विक्रम वराहमिहर जी को लेकर प्रियं के कोष्ठक में आए। प्रियंगुमंजरी उसी स्थिति में अपनी कोमल भुजाओं में मुख छिपाए कुशासन पर पड़ी सिसक रही थी।

सम्राट ने समीप जा उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"क्या हुआ पुत्रि!, तू क्यों रो रही है?"

पिता के स्नेह-सिक्त शब्द और दुलार के स्पर्श को पा प्रियं और भी सिसक उठी।

सम्राट ने उसे अंक में समेटते हुए कहा—

"बेटी ! कुछ कह भी तो क्या हुआ है ?"

प्रियंगुमञ्जरी कुछ नहीं बोली, पिता की अंक में छिपी रोती ही रही।

सम्राट ने पुनः कहा—"पुत्रि ! ऐसे रोना उपयुक्त नहीं। देखो, तुमसे मिलने स्वयं आचार्यप्रवर वराहमिहरजी आए हैं, और तुम उनका ऐसा स्वागत कर रही हो ?"

प्रियं ने अपने पर नियन्त्रण किया। लजाती हुई पिता की अंक से अलग हो, नत मस्तक बैठी रही।

सिसकियों पर कुछ नियंत्रण अवश्य हुआ था; परन्तु नेत्रों से अविराम बहती अश्रुधार प्रियं के उभरे हुए उरोजों पर आ रही थी। नेत्रों में लगाया गया अञ्जन अश्रु-धार के साथ कपोल पर आ फैल गया था। केशों में गूँथे पुष्प असन्दी पर टूट कर विखर चुके थे। सम्राट ने यह देखा और अधीर हो पुनः बोले—

"पगली ! कहो तो...क्या हुआ है तुम्हें, शरीर तो स्वस्थ है न ?"

"आचार्यवर मुझसे रुष्ठ होकर चले गए हैं।"

—प्रियं ने सिसकते हुए कहा।

"आचार्य तुझसे रुष्ट हो गए ?"

"हाँ !"

"क्यों ?"

"मुझसे अनजाने ही उनका अपमान हो गया।"

"यह उचित नहीं हुआ।" सम्राट विस्मित होकर बोले—पुत्री ! गुरुजन का अपमान करना कदापि उचित नहीं होता।" प्रियं मौन रही।

"अब तू रो मत। उनसे क्षमा माँगना। किए पर पश्चात्ताप करना है।......पगली कहीं की।"

—सम्राट ने अपने वस्त्र से प्रियं के अश्रु पोंछे।

आचार्य वराहमिहर ने प्रियं के सौन्दर्य को समीप से देखा और ठगे से रह गए। उन्होंने कुमारी को सम्राट विक्रमादित्य के राज्याभिषेक के

अवसर पर ही देखा था। तब वह बहुत छोटी थी। आज की प्रियं में पूर्व पश्चिम सा अंतर हो गया था—आज कुमारी प्रियंगुमञ्जरी का सौन्दर्य देखते, उनके नेत्र नहीं अघा रहे थे।

सम्राट विक्रम ने आचार्य से कहा—

"विद्वन्! इसके भविष्य के सम्बन्ध में भी कुछ कह दीजिए!"

आचार्य मुस्कराए। प्रियं के दीप्त ललाट पर दृष्टि स्थिर करते हुए उन्होंने कहा—"राजेन्द्र! आपकी कन्या अत्यन्त भाग्य-शालिनी है। इसका पति एक ऐसी महान् विभूति होगा, जिसकी कीर्ति अनन्तकाल तक इस पृथ्वी पर रहेगी। भव्य ललाट है इसका!"

सम्राट विक्रम हर्षित हो बोले—

"आचार्यवर! इसकी जन्म-पत्रिका प्रेषित करूँ?"

"नहीं, कोई आवश्यकता नहीं। कुमारी के ललाट पर ही दिव्य कुण्डली अंकित है। विधि ने आप की पुत्री को सभी गुण उदारता पूर्वक प्रदान किए हैं।"

—और आचार्य मुस्कराए।

"स्वयंभू इसे सुखी रख!"—

—मालवेन्द्र गद्‌गद् हो उठे और उन्होंने स्नेहिल दृष्टि से प्रियं की ओर देखा। आचार्य भी देख रहे थे।

प्रियं लज्जा से रक्तिम हुए अपने मुख को पृथ्वी तल पर झुकाए बैठी रही। उसके मस्तिष्क में कोई एक स्मृति पुनः जागृत हो, अन्तःस्तल में हौले-हौले एक विचित्र प्रहार कर रही थी और वह खो गई थी अपने आप में...!"

## ७

# तरुण पशुपाल

आचार्य वररुचि आश्रम के बटुगणों में बैठे धर्म चर्चा कर रहे थे।

प्रतिदिन प्रातः कालीन सर्व क्रियाँओं से निवृत होकर अन्तेवासी आचार्य को आ घेर लेते। और यहाँ पर्याप्त समय तक आचार्य के सानिध्य में अनेक विषयों पर वाद विवाद चला करते।

बटुगण किसी विषय पर तर्क वितर्क करते हुए कभी-कभी आपस में झगड़ पड़ते। आचार्य उचित निर्णय कर सभी को शान्त करते और वास्तविकता से सभी को अवगत कराते।

क्षिप्रा-पुलिन का यह आश्रम बहुत ही मनोरम था। कदली-वन और अमराई आचार्य के आश्रम की अनुपम छटा थी।

आश्रम में बैठे बटुओं में से सहसा आचार्य की दृष्टि दूर एक व्यक्ति पर जा टिकी थी। अचानक वे एक शिष्य से बोले—

"वत्स! वह जो व्यक्ति अल्हड़ चाल से जा रहा है, तुम उसे देख रहे हो?"

"हाँ, आचार्यवर!"—शिष्य बोला।

"उसे शीघ्र आश्रम में लिवा लाओ।"

"शिष्य शीघ्र ही उस झूमकर चल रहे व्यक्ति के निकट गया। बोला—

"बन्धु! तुम्हें हमारे आचार्यवर बुला रहे हैं।" वह व्यक्ति अपनी विचार शृंखला में खोया हुआ अपने आप में ही मस्त था। कुछ रुक कर बोला—

—"ऐं?"

"तुम्हें हमारे आचार्य बुलाते हैं।"

"कौन?" उस व्यक्ति ने शिष्य की ओर देखा और कहा।

"हमारे आचार्य।"

"क्यों?"

"कुछ कार्य होगा।"

"क्या कार्य?"

"यह तो वहीं ज्ञात हो सकेगा, आश्रम में।"

"कहाँ है आश्रम?"

"यहीं समीप ही।"

"कैसा आश्रम है?"

"अच्छा है। मनोरम!"

"क्या करते हैं, आश्रम को?"

"आश्रम को क्या करते हैं? कुछ नहीं।"

"फिर मुझे क्यों ले जा रहे हो?"

"आचार्य को तुमसे कार्य है।"

"क्या कार्य है?"—पुनः उस व्यक्ति ने पूछा।

शिष्य भी अब अत्यन्त खीझ चुका था। कुछ अप्रसन्न हो बोला—

"कहा न वहीं चलने पर ज्ञात होगा।"

"मैं आश्रम नहीं जाता, आश्रम को यहीं उठा लाओ।"

इस पर शिष्य और भी अप्रसन्न हुआ, परन्तु आचार्य का आदेश था। अतः वह कृत्रिम नम्रता से बोला—

"मित्र ! आश्रम यहाँ नहीं लाया जा सकता है और न आचार्य ही यहाँ आ सकते हैं; क्योंकि वह अन्तेवासियों को शिक्षा दे रहे हैं।"

"आचार्य शिक्षा देते हैं ?"—वह प्रफुल्लित हुआ।

"हाँ !"

"विद्वान् भी बना देते हैं ?"—वह और भी प्रफुल्लित हुआ।

"अवश्य ?"

"मुझे भी विद्वान कर देवेंगे ?"

"हाँ, हाँ, तुम वहाँ चलो तभी न ?"

"तो मैं चलता हूँ, चलो।"

वह शिष्य के साथ आश्रम में आ गया। आश्रम की प्रमुख कुटियों के आँगन में बहुत-से बटुओं को देख, वह रुक गया। आचार्य ने देखा— वह उठे, और आदरपूर्वक बोले—

"आओ, वत्स ! आओ !! रुक क्यों गए ?"

वह निकट आया।

"बैठो !" आचार्य ने मृदु संकेत किया।

सभी बन्धु-गण आश्चर्य विस्मित भाव से आचार्य और उस आगन्तुक तरुण व्यक्ति को देख रहे थे।

तरुण एकदम अज्ञानी-सा प्रतीत हो रहा था। वस्त्र फटे थे, केश रूखे तथा अस्त-व्यस्त ललाट को छिपाए पड़े थे। वह आश्चर्य भाव से सभी को मूर्तिवत् देख रहा था।

आचार्य पुनः बोले—

"बैठो न वत्स बैठो ! तुमने मुझे पहिचाना ?"

"पहिचाना...!" वह मुस्कराया—"महाकाल कान्तार में ही तो.........?"

"हाँ, तुमने मुझे दूध पिलाया था !"

—आचार्य हँसकर बोले। उन्हें उसकी स्मरण-शक्ति पर प्रसन्नता हुई साथ ही कुछ आश्चर्य भी कि इतनी स्मरण शक्ति वाला यह तरुण मूर्ख कैसे ? आचार्य ने सोचा—निःसन्देह यह कुशाग्र भावुक है और अज्ञानियों की दृष्टि में यह मूर्ख है। मेरा सहयोग इसे जड़ता से मनुष्यता में परिवर्तित कर देगा। पृथ्वी में कई ऐसे भी मनुष्य हैं जिनमें कल्पनाओं का अगाध भण्डार भरा होता है। सोचने की शक्ति होती है और करने की आत्मविद्या; परन्तु परिस्थिति के थपेड़े उन्हें अतल में छिपाए रहते हैं और वह अन्धकार में छिपे ही रह जाते हैं। कुछ ऐसे भी होते है जिन्हें स्वतः अपनी शक्ति का अनुमान नहीं रहता। वह यह भी नहीं जानते कि वह कौन है, तथा किस लिए इस सृष्टि में उत्पन्न हुए हैं ? कभी कभी किसी का सहयोग ही उन्हें चरम सीमा पर पहुँचा देता है। वाल्मीकि के हनुमान भी तो बन्दर ही थे। उन्हें भी अपनी शक्ति का तनिक भी अनुमान नहीं था। उनमें एक समुद्र तो क्या, सप्तसागरों को यों ही बिना श्रम कूद जाने की अपार शक्ति थी; परन्तु वे अपनी शक्ति से अपरिचित थे। जामवन्त के सहयोग ने उनसे एक समुद्र ही नहीं लँघाया अपितु एक ऐसी शक्ति जागृत की कि जिसके कारण आर्य जन-जन के हृदय में उनके प्रति एक श्रद्धामय स्थान बन गया। सम्भव है इसमें भी वही बल हो, और वही शक्ति भी· परन्तु अपने सुप्त बल को यह भूला हुआ हो—मेरा सहयोग इसे अवश्य मनुष्य बना देगा ! एक चिर स्मृति की याद रखने वाला मनुष्य मूढ़ नहीं, बुद्धिमान् है ! आचार्य ने एक बार पुनः उसके निर्विकार मुख मण्डल का अवलोकन किया तथा बोले—

"पुत्र ! तुम कुशाग्र हो, गुणी हो, दयालु हो। तुम्हारे ललाट पर भविष्य की भव्य रेखाएँ हैं। तुम विद्योपार्जन क्यों नहीं करते ?"

"मैं, कौन देगा मुझे विद्या ! आप देंगे ?"

आचार्य ने तरुण के विकृत मुख की ओर देखा। उनके करुण हृदय में करुणा उमड़ आई। बोले—

"हाँ वत्स, मैं दूँगा! तू प्रतिदिन आश्रम में आया कर।"

"इसी आश्रम में?"

"हाँ, इसी आश्रम में!"

"आप मुझे विद्वान् बना देंगे?"

"अवश्य-अवश्य, तू ऐसे ही विद्वान है।"

—आचार्य ने उसे प्रोत्साहित किया।

"नहीं, मुझे आप ऐसा विद्वान् बनाइए कि मेरी नगर में धूम-धाम से सवारी निकले, लोग पुष्प वर्षा करें। मैंने कल ही देखा था नगर में किसी की सवारी निकल रही थी, लोग कह रहे थे—ये नव आगन्तुक विद्वान् है। सम्राट ने इन्हें उज्जयिनी में रहने के लिए आमंत्रित किया है।"

आचार्य मुस्कराये—

"हाँ, वत्स! तुम ठीक कहते हो, गुणियों की इसी प्रकार पूजा होती है। वह ग्राम कपित्थ के विद्वान् थे। सम्राट विक्रम ने उन्हें उज्जयिनी बुलाया है। तुम भी ऐसे ही बन जाओगे! सम्राट तुम्हारा भी ऐसा ही आदर करेंगे।"

"मैं कब से आऊँ?"

"कल प्रातः ही से।"

"प्रातः तो मैं धेनु लेकर कान्तार में चला जाता हूँ।

"यह सब विद्या के लिए त्यागना होगा!"

"और पेट के लिए?"

"वह व्यवस्था भी है।" आचार्य मुस्कराए—"मैं तुम्हें "महाकाली विद्यापीठ" ले चलूँगा। वहाँ के प्राचार्य मेरे स्नेही हैं! वह सेवा के

बदले में मुझे विद्या देंगे। यहाँ के अन्तेवासी भी उसी विद्यापीठ में अध्ययन करते हैं।"

"अच्छा स्वामी!"

"स्वामी नहीं कहते मुझे।"

—आचार्य मुस्कराए।

"तो फिर क्या कहूँ—'आचार्य', वह व्यक्ति जो मुझे बुलाने आया था; यही शब्द कह रहा था।"

आचार्य वररुचि जी तरुण के इन भोले शब्दों को सुन हँस पड़े। अन्तेवासी भी हँसे और न जाने क्यों वह तरुण भी !!!

## ८

# विचार-वेदना

कुछ समय पश्चात सम्राट विक्रम को आचार्य वररुचि द्वारा दिए गए श्राप की सम्पूर्ण कथा एक दासी द्वारा ज्ञात हो गई।

प्रियंगुमंजरी ने यह सब एक दासी से कहा था और दासी ने इन दुर्दान्त समाचार से सम्राट विक्रम को अवगत करा दिया।

सम्राट ने यह सुना तो अधीर हो गए। यह अच्छा शकुन नहीं था। विप्र-शाप राज्य का नाश कारक होता है। विप्रों के कृपा-बल पर ही राज्य निर्भर रहते हैं। पुराण में वर्णित "प्रतापभानु" की कथा सम्राट विक्रम के मस्तिष्क में चित्र लिखित सी आने लगी। विप्रों के श्राप से ही उसका सार्वभौम राज्य पलक मारते ही नष्ट हो गया था। उस काल वह एक ख्याति प्राप्त छत्रपति सम्राट था—मालवेन्द्र विचलित हो उठे। एक साथ उनके मस्तिष्क में दो बातें घूम रही थीं—"पशुपति तुझे पशुपाल ही वर दे"—आचार्य वररुचि जी का यह श्राप और एक ओर वराहमिहर जी की भविष्यवाणी—"आप की कन्या भाग्यशालिनी है। इसका पति विश्व की एक विभूति होगा।"

विचित्र बात थी। एक ओर वराहमिहर जी की भविष्यवाणी मिथ्या नहीं हो सकती, दूसरी ओर आचार्य वररुचि के शब्द असत्य नहीं हो सकते थे। उनकी हर वाणी सत्य सिद्ध हुई थी।

विक्रम के मस्तिष्क में दोनों बातें लट्टू के समान चक्कर काट रही थी। उनका मस्तिष्क विकृत सा हो उठा। सहसा वे उठ खड़े हुए। दोनों महापुरुषों की अटल वाणी का वे निराकरण चाहते थे। अनायास ही उनके पैर कुमारी प्रियंगुमंजरी के कक्ष की ओर उठ चले।

कुमारी प्रियं सेविकाओं के मध्य बैठी गृह कपोतों से खेल रही थी।

सम्राट के प्रवेश करते ही सब उठ खड़ी हो गई।

विक्रम ने अपनी पुत्रि से पूछा—

"आचार्य वररुचि तुम्हें शिक्षा देने आए थे न ?"

"हाँ, और गए भी !" —प्रियं ने कहा।

"आचार्य तुम पर रुष्ट तो नहीं रहते ?"

"नहीं वह तो सदैव ही प्रसन्न रहते हैं! वह कह रहे थे—मेरे आश्रम में एक विचित्र तरुण आया है। उसी में व्यस्त रहता हूँ। वह होनहार और प्रभावशाली है। पिताजी, आप आचार्य के आश्रम जावें तो मुझे भी ले चलें—मैं भी चलूँगी।"—प्रियं ने जिद की।

सम्राट मुस्कराये—

"यदि तुम चाहती हो तो, आज ही चलो। आचार्य वराहमिहरजी को साथ लेना होगा। दोनों आचार्यों के मध्य कुछ विशेष चर्चाएँ करनी है।"

और सम्राट का मुख पुनः गम्भीर हो उठा था।

## ६

## जटिल समस्या

आचार्य वररुचि के आश्रम के समुख एक दिव्य रथ आकर रुका।

रथ से विक्रमादित्य, बराहमिहर और प्रियंगुमंजरी उतरे। प्रियं आज अत्यन्त आकर्षक वेश भूषा में थी। कुन्तल केश मस्तक के अग्र-भाग में जूड़े के रूप में बघे थे, जिनमें कहीं-कहीं जूही, वैजयन्ती पुष्प सजे हुए थे। शरीर पर कौशेय झीना परिधान था, उरोज पर कसी जड़ाऊ कन्चुकी जिसमें से झिल-मिला रही थी। क्षीण-कटि भाग पर बधी मेखला घुटनों से नीचे तक लटक रही थी। सभी आचार्य वररुचि के आश्रम में आए।

आचार्य वररुचि उस तरुण पशुपाल को दर्शन और उसके भेद समझा रहे थे। अन्तेवासी-गण आचार्य और उस तरुण को घेर कर बैठे, आचार्य के प्रवचन को सुन रहे थे।

तरुण पशुपाल अब उन जीर्ण चिथड़ों में नहीं था, उसके स्वस्थ-पुष्ट शरीर पर शुभ्र काषाय था। भाल पर लम्बा शिव-तिलक शोभित हो रहा था। उसके मुख पर दिव्य प्रकाश था। मस्तक पर कुन्तल केश

व्यवस्थित सजे हुए थे। उपस्थित शिष्यों एवं बैठे विप्रों में वह एक मात्र प्रतिभावान दिखता था।

बराहमिहर तथा मालवेन्द्र के आगमन पर आसन पर बैठे बररुचिजी हर्षित हो अभिनन्दन के लिए उठ खड़े हुए। उन्होंने आदर कर सभी को सादर आसन दिए। कुमारी प्रियंगुमंजरी उनके सन्निकट आ पार्श्व में बैठी। उसके चञ्चल नेत्र उस अपरिचित तरुण-व्यक्ति को खोज रहे थे, जिसके सम्बन्ध में आचार्य ने प्रासाद में कहा था। क्षण भर में प्रियं के नेत्र अपने अभिष्ट को प्राप्त कर गए, और उन विशाल नेत्रों से मिल गए जो प्रियं को आश्रम में प्रवेश करने के समय से ही अपलक देख रहे थे।

प्रियंगुमंजरी की पलकें लड़खड़ा गईं और सिहरकर अवनी-तल हो गईं। उसे ऐसा आभास हुआ; "सम्भवतः यह मोहक आकृति मैंने कहीं देखी है। कहीं यह विचित्र तरुण महाकाल प्रकोष्ठवाला वह अर्धविक्षिप्त तो नहीं?"—प्रियं की स्मृति जागृत हुई।

तरुण सहसा उठ खड़ा हुआ। उसने मालवेन्द्र को पहिचान लिया था, राजकर्मचारी द्वारा उस पर प्रदर्शित अमानुषिक व्यवहार, उसे अभी भी स्मरण था। आचार्य को प्रणाम कर बोला—

"आयुष्मन्! मुझे दैनिक कार्य करने हैं, आज्ञा हो तो जाऊँ?"

सदैव नियमबद्ध ही रहना चाहिए, वत्स! जाओ सायंकाल अवश्य आना।"—आचार्य मुस्कराये भी।

वह पलटा, एकबार पुनः उसकी दृष्टि प्रियंगुमंजरी के चंचल नेत्रों से मिल गई।

इस बार प्रियं ने अपनी पलकें नहीं झुकाईं न दृष्टि ही फेरी। बस एक टक तरुण की ओर देखती ही रही। तरुण के खड़े होने से उसके लम्बे श्याम केशों की एक लट ललाट पर उतर आई। प्रियं को यह छबि बहुत प्रिय लगी और वह अपलक देखती ही रही उसे।

प्रियं अकेली ही उस छवि को नहीं देख रही थी। आचार्य बररुचि को छोड़ शेष सभी विचित्र भाव से तरुण की ओर एक-टक देख रहे थे। और देखते ही रहे जब तक कि वह आश्रम से बाहर नहीं हो गया।

तरुण के जाते ही आश्रम में मौन का साम्राज्य छा गया।

"आचार्य! यह तरुण कौन था?"

—बराहमिहरजी ने मौन भंग किया।

आचार्य ने सहज स्मित किया—

"मेरा गुरु।"

"आचार्य के इन शब्दों ने सम्राट विक्रम और अन्य उपस्थित सज्जनों को हँसा दिया। प्रियं नहीं हँसी, वह कुछ सोच रही थी। आचार्य बराहमिहर गम्भीर ही रहे, बोले—

"यह आपका गुरु, कुछ काल पश्चात् विश्व गुरु होगा।"

"हाँ, उसमें यह एक विचित्र प्रतिभा है जो उसकी ओर देखता है उसके शान्त मुख मण्डल की सौम्य छटा पर प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।"

—और आचार्य बररुचि मुस्कराये।

इन शब्दों का प्रियं पर प्रभाव हुआ। वह और भी सिकुड़कर बैठ गई।

"नहीं यह दूसरी बात है। मैं तो उसके भाल पर आँके विधि के अंकों से प्रभावित हूँ।" —वराहमिहरजी ने कहा।

"इतना भाग्य शाली है...?"—सम्राट विक्रम ने आचार्य से पूछा।

"हाँ, वह देश-विदेश पर्यन्त ख्याति पाएगा। जब तक पृथ्वी है—यशस्वी रहेगा।"

"तबतो उसे अवन्तिका में ही रहना चाहिए। कहाँ रहता है यह तरुण, आचार्यवर?"—मालवेन्द्र की उत्सुकता बढ़ी।

"यहीं, "महाकाली-विद्यापीठ" के आश्रम में, क्षिप्रातट पर।"

"और इसके पूर्व ? सम्भवतः हमने इसे कहीं देखा है ।"

"यहीं महाकाल कान्तार में ।"

"ऐसा क्यों ?"

"यह सब विचित्र कथाएँ हैं। देवगिरि और क्षिप्रा का पुलिन उसकी प्यारी लीलाभूमि है ।"

"इसके पालक ?"

"महाकाल और माँ हरसिद्धी !" आचार्य ने उत्तर दिया—

"पावन क्षिप्रा की धारा, विशाल महाकाल कान्तार तथा देवगिरि की उपत्यका उसके प्रिय सखा है ।"

—आचार्य मुस्कराये ।

"बड़ी विचित्र बात है ।"—सम्राट विस्मित हुए ।

"विचित्र है; परन्तु ध्रुव-सत्य है । उसका जीवन स्वयं रहस्य है । और न जाने क्यों वह अपने रहस्य को प्रकट नहीं करना चाहता ।"

—और आचार्य गम्भीर हो गए ।

"निसन्देह वह विचित्र ही है ।" प्रियंगुमंजरी भी भावुक हो बोली—

"हम सब आए और वह चला गया ! न आचार्य को न मेरे पूज्य पिता को ही उसने अभिवादन किया !"

"बेटी ! उसकी दृष्टि में प्रकृति ही सब कुछ है । दूर क्षितिज में ताकना, नीले अम्बर पर निर्निमेष दृष्टि...यही उसकी अपनी विशेषता है । स्वयंम् जाने—क्या देखता है वह प्रकृति में...।"

आचार्य वररुचिजी को अधिक भावुक होते देख वराहमिहरजी ने मुस्कराकर विषयान्तर किया । बोले—

"मेरी मति में अब तरुण व्यक्ति की चर्चा को यहीं स्थगितकर किसी महत्वपूर्ण विषय पर चर्चा आरम्भ करना उपयुक्त होगा । सम्राट से मेरी प्रार्थना है कि वे ही कोई योग्य विषय समक्ष रखें, क्योंकि मार्ग

में थे कह भी रहे थे कि आचार्य वररुचिजी के आश्रम में मुझे कुछ महत्व पूर्ण चर्चाएँ करनी है।"

"मेरी चर्चाएँ राजनैतिक नहीं होगी।" सम्राट विक्रम कहने लगे—"कुछ दिनों से मैं न जाने क्यों अपने आप में ही निराश-सा होता चला जा रहा हूँ...मुझे प्रियं की अत्यन्त चिन्ता है...?"

—सम्राट विक्रम कहना तो बहुत चाहते थे; परन्तु न जाने क्यों अधीर हो गए और फिर इससे अधिक कुछ न कह सके।

"प्रियं की चिन्ता? इस चिन्ता से राज्यकार्य में क्या बाधा?"

—वररुचिजी ने आश्चर्य में पूछा।

"आप स्वतः जानते हैं आचार्य! प्रियंगुमंजरी ने आपका जो अपराध किया है, उसका फल मुझे अधिक विचलित कर रहा है।"

—मालवेन्द्र का मुख अधिक उदास हो उठा।

आचार्य अब खुल कर हँसे। बोले—

"हम गुरु शिष्य में तो सुलह भी हो चुकी है। क्यों, है न बेटी?"

—उन्होंने प्रियं को पक्ष में किया।

"परन्तु आपकी वाणी तो अमिट है—!"

"कौन सी वाणी—?" —विक्रम को अधिक अधीर देख आचार्य विस्मित हुए।

"आपका श्राप!"

"मेरा श्राप? कैसा श्राप—?" —आचार्य भी अब गम्भीर हुए।

"प्रियं तो उस श्राप को स्वयंभू के समक्ष अंगीकार भी कर चुकी है! और देव, इसकी प्रतिज्ञा भी तो भयंकर है...!"

"कैसी प्रतिज्ञा—?"

"आपके गुरु से विवाह करने की, असम्भव प्रतिज्ञा!" —सम्राट ने कहा।

"परन्तु मेरा श्राप—?" आचार्य विचलित हुए, उनके भव्य ललाट पर कुछ बल पड़े।

"एक समय आपकी रुचि के विपरीत अर्थहीन प्रश्न किये जाने पर आपने इसे यह श्राप दिया था कि पशु-पति तुझे पशुपाल ही वर दे!"

आचार्य कृत्रिम रूम में हँसे। और बोले—

"यह तो स्नेह के शब्द है, श्राप नहीं! आप तो यह जानते ही हैं कि प्रियं से मुझे कितना स्नेह है—?"

"सत्य है, आचार्य! अनायास में ही यह अनहोनी घटना जटिल बन गई है।...परन्तु यह बावरी भी तो कैसी प्रतिज्ञा कर गई!"

—मालवेन्द्र अब अत्यधिक अधीर हो गए—"मालव के सम्राट को उचित नहीं कि वे छोटी-छोटी समस्याओं पर अशान्त हो! धैर्य वीरों का भूषण है—!" वराहमिहर जी मालवेन्द्र विक्रम को अधिक अशान्त होते देख कहने लगे—"विश्वास रखिए, आपकी कन्या भाग्य शालिनी है। इसका पति विश्व विख्यात होगा—यह मैं पुनः कह रहा हूँ!"

"परन्तु आचार्य वररुचि जी का श्राप, प्रियं की कठोर प्रतिज्ञा और आपकी भविष्यवाणी—यह सब एक दूसरे के विपरीत ही है। आपही कहें, यह सब कैसे युक्ति संगत हो सकेगी?"

—मालवेन्द्र ने प्रश्न सूचक दृष्टि वराहमिहर जी पर पसारी।

वराहमिहर जी मौन रहे। क्रमशः उन्होंने मालवेन्द्र विक्रम, प्रियंगुमञ्जरी तथा आचार्य वररुचि जी के मुख पर पड़ रहे भावों का अवलोकन किया।

प्रियंगुमञ्जरी नतमस्तक बैठी मृग चर्म पर उँगलियाँ नचा रही थी, सम्भवतः कुछ सोच भी रही होगी। आचार्य वररुचि भी नेत्र बन्द किए विचार निबद्ध हो चुके थे और विक्रम क्षण-प्रतिक्षण करुणा के विशाल सागर में गोते लगा रहे थे। यह देख वराहमिहर जी ने कहा—

"कभी-कभी मनुष्य जीवन में अकारण ही अशान्ति छा जाती है, और वह अपने आप में ही खो-सा जाता है...। यही परिस्थिति यहाँ मालवेन्द्र की भी है।"

सम्राट विक्रम ने अपने आप पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न किया। बोले—

"हाँ, कभी-कभी अकारण ही मन अशान्त हो उठता है। यह मानसिक दुर्बलता ही है।" उन्होंने आचार्य वररुचि जी की ओर देखा; आचार्य अब भी चक्षु बन्द किए बैठे थे। बोले—

"अब चलना ही उचित होगा। और भी राज्य कार्य आवश्यक रूप से देखने हैं।" चर्चा करते यहाँ पर्याप्त समय हो चुका था, वराहमिहर जी ने भी समर्थन किया।

सभी आचार्य वररुचि जी से आज्ञा ले अपने रथ पर आ बैठे। रथ आश्रम मार्ग से राज्य-रथ्या की ओर द्रुत गति से अग्रसर हो गया।

× × ×

सबके चले जाने पर आचार्य को अपने दिए हुए श्राप का ध्यान आया। कहने को तो उन्होंने कह दिया—"वह मेरा श्राप नहीं है।" परन्तु जो वचन अनजाने ही निकल चुके थे, उसके भयंकर परिणाम का ध्यान आते ही वे सिहर गए।

मालवेन्द्र विक्रम की करुण आकृति क्षण-प्रतिक्षण उनके मानस-पटल पर चढ़, उनके मस्तिष्क को विकृत बना रही थी।

"क्या सुकुमारी प्रियं, किसी पशुपाल के योग्य हो सकती है—?" आचार्य ने अपने आप से ही प्रश्न किया। "कदापि नहीं!"—'तो फिर मैंने ऐसा कठोर श्राप क्यों दे डाला—?" पश्चाताप से विह्वल हो अत्यन्त वेदना भरे शब्दों में वे फुस-फुसाए—'हे, शम्भू! मुझसे यह क्या हो गया!'

उद्विग्न आचार्य मन की शान्ति के लिए क्षिप्रा तट पर आकर

बैठे; परन्तु उनके नेत्रों में यथाक्रम वही दृश्य आ रहे थे। वे सोच रहे थे—प्रियं बड़ी हठी है, उसकी प्रतिज्ञा भी अटल है। एक बार पुनः उनके कानों में अपने आप की कठोर ध्वनि गूँज गई और उसी क्षण प्रियं का भोला, गुलाबी, हँसता हुआ मुख-मण्डल उनके नेत्रों के समक्ष चमक उठा। तभी अचानक एक ओर देदीप्यमान् आकृति उनके नेत्रो में उभरी। वही तारुण्य के लालित्य से सजी सँवरी निराली-छबि, बिखरी लट, बड़े-बड़े ज्योतिमय नेत्र, सौम्य मुद्रा।

सहसा आचार्य को वराहमिहरजी की वाणी स्मरण हो आई—"आप का यह गुरु कुछ साल पश्चात् विश्व का गुरु होगा!" आचार्य के नेत्रों में में एक अनोखा प्रकाश उत्पन्न हुआ। दूसरी भविष्यवाणी—"सम्राट! आपकी कन्या का पति विश्व-ख्याति प्राप्त करेगा। उसकी कीर्ति जब तक पृथ्वी है रहेगी।" प्रियं के व्यंग बोल—"मेरी प्रतिज्ञा है, मैं आपके गुरु से ही विवाह करूँगी!"

आचार्य वररुचि के मुख पर अद्वितीय सन्तोष झलक आया। वे अपने गम्भीर नेत्रों को पावन क्षिप्रा में गड़ाए न जाने कब तक बैठे रहे। इन रहस्यमय अनेक उलझे प्रश्नों में अब उन्हें एक मार्ग दिखाई दे रहा था!

## १०

# विचित्र-आकर्षण

प्रियंगुमंजरी ने जब से उस तरुण युवक को देखा था तभी से उसके हृदय में एक विचित्र-सी हल-चल मची हुई थी। उस युवक का भव्य सौन्दर्य, आचार्य के सम्मुख किया हुआ शिष्ट व्यवहार—नहीं चाहते हुए भी नेत्रों के समक्ष नृत्य कर उठता था।

खिले पद्म से अधर, ललाट पर बिखरी घुँघराली-कृष्ण-कुन्तल राशियाँ, विशाल नेत्र, पुष्ट सुडौल-शरीर...सभी कुछ भुलाए नहीं भूलता था। धीरे-धीरे प्रियं के तरुण मन में एक कामना उठी कि उस अनन्य सौन्दर्य को एक बार पुनः नेत्र भर देखे; किन्तु कैसे...और क्यों...। यहीं आकर वह कुण्ठित हो जाती। अपने मन को वह पर्याप्त दबाती रही; किन्तु कब तक दबाती। उसकी उत्कण्ठा उस पर विजय पाती गई। वह प्रायः उदास, खोई-खोई सी रहती। किसी भी विनोद में उसका मन प्रसन्न नहीं होता।

सम्राट उसे इस प्रकार उदास देखकर अत्यन्त चिन्तित हो उठे। अवसर पाकर एक दिन उन्होंने प्रियं से पूछा—

—"पुत्रि ! आजकल तुम उदास-सी रहती हो ? क्या कारण है ?"

"नहीं, मैं उदास कहाँ ? मैं तो प्रसन्न हूँ ।"

—प्रियं ने वास्तविकता को छिपाना चाहा ।

"नहीं, तुम छिपाती हो ।" सम्राट ने कहा—"मैं कई दिनों से देख रहा हूँ, प्रायः तुम उदास ही रहती हो ।"

"हाँ, यूँ ही न जाने क्यों मेरा मन प्रासाद की इन रुद्ध-भित्तियों में बन्द उद्विग्न सा रहता है ।"

सम्राट मुस्कराए—

"तो प्रातः-सायं उपवनों में भ्रमण कर आया करो । सारथी की नियुक्ति किए देता हूँ ।"

"हाँ पिताजी ! मेरा विचार है कि आचार्य के यहाँ आने के स्थान पर मैं स्वयं ही उनके आश्रम पर अध्ययनार्थ चली जाया करूँ ?"

"अत्यन्त सुन्दर, यह तो अति उत्तम होगा । आचार्य को कष्ट भी नहीं होगा और तुम्हारा वायु-सेवन भी हो जायगा । मैं आज ही प्रबन्ध कर देता हूँ ।"

—सम्राट विक्रम ने प्रसन्नता से कहा ।

हर्षित हो प्रियं ने मस्तक नवा लिया । उसके मन में एक मीठी कसक थी , साथ ही एक नवीन आशा भी । एक बार पुनः वह सौन्दर्य देखने को मिलेगा, जो उसकी चिन्ता और उदासी का कारण था ।

# ११

## प्रियंगुमंजरी आचार्य वररुचि के आश्रम में

तभी से प्रियंगुमंजरी नियमित रूप से आचार्य वररुचि के आश्रम में प्रातः जाने लगी। वह तरुण भी वहाँ आता। जब तक एक बार उसे अपने बंकिम-नेत्रों से प्रियं जी भर नहीं देख लेती, तब तक आश्रम से न लौटती।

तरुण आता और आचार्य के समीप बैठ कर उनसे चर्चा करने लगता प्रियंगुमंजरी आचार्य के पार्श्व में बैठी उसकी छटा निहारा करती। प्रायः तरुण भी प्रियं की ओर देखता, किन्तु नेत्र मिलते ही दृष्टि फिरा लेता। प्रियं सहम जाती।

एक दिन तरुण दिन चढ़े तक नहीं आया। प्रियंगुमंजरी आश्रम में बैठी तैत्तरीय उपनिषद् के श्लोकों का पाठ करती रही। आहट मिलते ही वह बार-बार आश्रम के प्रमुख द्वार की ओर देखती।

आचार्य ने अनेक बार कहा—

"बेटी! आज क्या "माया", "ब्रह्म" जान कर ही जाएगी? अति सर्वत्र वर्जयेत्। जा, अब तू जा, सम्राट विलम्ब से चिन्तित होंगे।"

परन्तु प्रियं बहाना बनाए रुकी रही। तरुण अभी तक नहीं आया था और प्रियं उसे देखे बिना कैसे जा सकती थी। प्रियं बोली—

"पूज्यवर! आपके आश्रम में मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है। लगता है यहीं उपवन में आम्रकुञ्ज में दिवस भर बैठी रहूँ।"

आचार्य मुस्कराए। प्रियं का एक टक उस तरुण को देखना, उसके चले जाने पर उसके सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछना आदि इन सब बातों से आचार्य को कुछ प्रसन्नता ही थी। वे प्रियं की कामनाओं को कुछ-कुछ जानने भी लगे थे। विषयान्तर की इच्छा से उन्होंने कहा—

"बेटी! इसी आश्रम के समान सुखकर-मनोरम आश्रम क्षिप्रा-तट पर एक और भी है।"

"किसका पूज्यवर?"

"कालकाचार्य का!"

"आयुष्मन! उनकी एक भगिनी भी है न?"

"हाँ, साध्वी सरस्वती, यथा नाम तथा गुण।

अवन्ती की एकमात्र आदर्श श्रमणा है वह। एक क्षण चर्चा करके तो देखो उससे!"

"तो फिर वहाँ चलिए न!"

—प्रियं ने हठ की।

"परन्तु आज नहीं!" आचार्य मुस्कराए—"आज मुझे कालिका विद्यापीठ जाना है।"

"कालिका विद्यापीठ?"

"हाँ, आज वहाँ मैं आमंत्रित हूँ।"

"वह तरुण नहीं आया, आज?"

—प्रियंगुमञ्जरी अन्ततः पूछ ही बैठी।

"यही तो मैं सोच रहा हूँ।" आचार्य प्रियं की ओर देख मुस्कराए—"उसे अभी तक आ जाना चाहिए था। बड़ा प्रिय युवक है...।"

—प्रियंगुमञ्जरी लजा गई।

आचार्य कुछ बोलने को ही थे कि "आचार्य! प्रणाम!"

तरुण की विनम्र वाणी ने उन्हें चुप कर दिया।

"आओ वत्स! आज पर्याप्त विलम्ब हुआ।"

"पूज्यवर! आज से विद्यापीठ के प्राचार्य ने मुझे आश्रम के सेवा कार्य से मुक्त कर महाकाली के पूजन कार्य में नियुक्त किया है। उसी में विलम्ब हुआ........और हाँ...पूज्यवर! आज तो विद्यापीठ में बटुओं की उपधा (परीक्षा) हुई थी, मैं आपके आशीर्वाद से सर्वश्रेष्ठ रहा हूँ!"

"साधु-साधु...!"—आचार्य प्रसन्न हुए।

तरुण कहने लगा—

"देव! अब तो प्राचार्य मुझसे और भी प्रसन्न रहने लगे हैं। वह कह रहे थे—देवी महाकाली सिद्धि की साक्षात् प्रतिमा है। लगन से पूजन करने पर अतिशीघ्र प्रसन्न होती है।"

"सत्य है?" आचार्य मुदित हो उठे—"वत्स आज मैं धन्य हुआ! तू बटुओं के उपधा में सर्वश्रेष्ठ रहा, आचार्य भी तुझसे सन्तुष्ट हैं; इससे बढ़ कर मेरे लिए और कौन सी प्रसन्नता का विषय हो सकता है? महाकाल तेरा कल्याण करे! पुत्र, तू महाकली की सेवा लगन से करना—कल्याण होगा!!"

"जो आज्ञा, आयुष्मन!"

सादर मस्तक नवा तरुण युवक ने स्वीकार किया। और सहसा उसकी दृष्टि प्रियं से मिल गई।

प्रियंगुमंजरी सहम कर रह गई।

तरुण को प्रियं की ओर देखता देख आचार्य बोले—

"इस बाला को जानते हो न?"

—प्रियंगुमंजरी की बढ़ती उत्कण्ठा देख आज आचार्य ने दोनों का परिचय कराना चाहा।

"जी...नहीं...जी...हाँ!"

—तरुण ने हड़बड़ा कर कहा।

"कौन है यह?"

"मेरे समान ही आप की एक प्रिय शिष्या।"

"सत्य है!" आचार्य तरुण के चातुर्य पर मुस्कराकर बोले—

"और मालवेन्द्र विक्रमादित्य की एकमात्र पुत्री! यह भी तुम्हारे शिष्ट व्यवहार से अत्यन्त प्रसन्न है।"

—आचार्य मुस्कराए। तरुण नें कुमारी प्रियगुमंजरी को सादर अभिवादन किया। और उसके विशाल नेत्र सहसा प्रियं के चंचल नेत्रों से मिल गए।

प्रियंगुमंजरी ने शिष्टता से अभिवादन का उत्तर अभिवादन से दिया। और साथ ही कुछ लज्जित हो उसने आचार्य की ओर दृष्टि फेर ली।

आज आचार्य अत्यन्त प्रसन्न थे।

# १२

## आचार्य के उपवन में

मन मोहक तरुण आश्रम के उपवन में एक लतामण्डप की घनी छाँह में शुभ्र-शिला-खण्ड पर बैठा हुआ दूर एक आम्र-वृक्ष की शाखा पर बैठे शुक-जोड़े को देख रहा था।

शुक-युग्म अपनी प्रणय-लीला में मस्त इस शाखा से उस शाखा पर निःशंक फुदक रहा था। दोनों एक दूसरे की चोंच में चोंच डालकर चहक उठते। तरुण को यह उपक्रम भला लग रहा था।

आचार्य आज प्रातः से ही कहीं चले गए थे। उन्हीं की प्रतीक्षा में वह यहाँ बैठा मनोरञ्जन कर रहा था।

"प्रणाम !" किसी के मृदुल शब्दों से लता-मण्डप गूँज उठा।

"प्रणाम !"—तरुण ने चौंककर हाथ जोड़ लिए और आदर के लिए उठ खड़ा हुआ।

"अरे, आप तो खड़े हो गए !"

"मालव कुमारी का स्वागत है।"

—तरुण ने विनम्र हो कहा।

"बैठिए न !"—राजकुमारी ने मृदुल शब्दों में कहा।

"आप भी बैठिए।"—तरुण ने बैठते हुए कहा। राजकुमारी भी वहीं बैठ गई।

तरुण की आखें पुनः आम्र-शाखा पर फुदकते हुए शुक-सारिका पर गई, कुमारी ने भी उधर देखा। और फिर दोनों के नयन परस्पर टकरा गए। दोनों ही सहम उठे। दोनों के अन्तस्तल में एक विचित्र-सा मृदुस्पन्दन हो रहा था, मानों हृदय-वीणा के तार अनजाने ही झनक उठे हो।

पर्याप्त समय तक यहाँ मौन का साम्राज्य रहा। यद्यपि दोनों बोलना चाह रहे थे, परन्तु बोल नहीं पा रहे थे।

"टाँय-टाँय" कर सामने आम्र-शाखा में बैठे शुक जोड़े ने मौन भंग किया।

आचार्य कहाँ गए हैं ?" अन्ततः प्रियं ही बोली।

"ज्ञात नहीं।"

"आप उनकी प्रतीक्षा में ही बैठे हैं ?"

"हाँ!"

फिर मौन।

समीप ही अमराई से कोयल कुहकी।

"आचार्य के पास आप अध्ययन करने आते हैं ?"

—प्रियं ने चर्चा करना चाहा।

"नहीं, ऐसे ही स्नेह वश आता हूँ।"

पुनः नीरवता। सहसा एक हवा का झोंका आया, अमराई के पत्ते खड़-खड़ाए, लताओं के कोमल अंकुर झूलने लगे। प्रियं का आँचल हवा में लहराया।

तरुण के कुन्तल केश ललाट पर आकर खेलने लगे। प्रियं चाहती थी कि वह कुछ बोले; किन्तु वह मौन था। उसके कृष्ण-केश अपने

सौन्दर्य में प्रियं के नेत्रों को उलझाए हुए थे और उसके नेत्र दूर प्रकृति की झीनी छाया पर स्थिर थे।

प्रियं को यह मौन असह्य था। वह पूछ बैठी—

"आप कुछ सोच रहे हैं?"

"नहीं तो, क्यों?"

—तरुण ने सहज भाव में कहा।

"तो फिर कुछ चर्चा ही कीजिए!"

—प्रियं ने मुस्कराकर कहा।

"यह उपयुक्त नहीं।"

—तरुण कुछ विचलित भी हुआ।

"यह क्यों?"

"विद्यापीठ के प्राचार्य का आदेश है।"

"कैसा आदेश?"

"विद्यार्थी जीवन में किसी भी युवती से एकान्त में वार्तालाप वर्ज्य है।"

"यदि ऐसा अवसर आ पड़े तो?"

"तो उतना ही बोलो, जितना आवश्यक है।"

"आचार्य से इसका कारण तो आपने पूछा ही होगा?"

—प्रियंगुमंजरी ने पूछा।

"आवश्यकता नहीं समझी।"

"ऐसा क्यों?"

"गुरुजनों से तर्क-वितर्क करना पाप है। गुरु, शिष्य के हित-अहित को दृष्टि गत रखते हुए ही आदेश देते हैं।"

"आचार्य वररुचि तो यह नहीं मानते। तर्क करना तो शिष्य का एक गुण मानते हैं!!"

"तब उन्हीं से पूछूँगा, इसका कारण।

—तरुण ने सहज ही कहा।

एक क्षण प्रियं तथा तरुण मौन रहे।

"आचार्य से पूछने के बाद मुझसे चर्चाएँ करेंगे?"

"इसके पूर्व भी करेगा।" आचार्य वररुचि कदलीबन से निकलकर समीप आए। बोले—"वत्स! तुम कुमारी से वार्तालाप कर सकते हो।"

सहसा आचार्य के प्रवेश करने से प्रियंगुमंजरी कुछ लजा गई।

"अकेली तुम्हें यहाँ अच्छा नहीं लगता क्यों, बेटी?"

—आचार्य ने मुस्कराकर पूछा।

प्रियंगुमञ्जरी और भी अधिक लजा गई। वह अपने अंगों को कछुए की भाँति समेटने लगी। प्रत्युत्तर कुछ न दिया।

समीप खड़े तरुण ने आचार्य के चरणों को छूआ।

"सरस्वती तुझपर प्रसन्न हो। आचार्य ने तरुण के कन्धे पर हाथ रखकर आशीष दिया और कहा—

"तुम्हें आज अधिक प्रतीक्षा करनी पड़ी।"

'अधिक तो नहीं पूज्यवर।"

"आज मैं आचार्य कालक के आश्रम चला गया था, वहीं विलम्ब भी हो गया।"

"पूज्यवर! मुझे ले जाने वाले थे न?

—प्रियंगुमंजरी ने बीच में ही प्रश्न किया।

"अरे हाँ। विस्मृति हो गई; प्रातः ही चला गया था न?"

"कोई विशेष कार्य होगा?"

—प्रियं ने पुनः पूछा।

"हाँ, कालकाचार्य ने बुलवाया था। वहाँ एक तेजस्वी श्रमण आए हैं। मालवेन्द्र भी वहाँ आए थे।"

"श्रमण?"

"क्षपणक नाम है उनका। मालवेन्द्र ने उन्हें अवन्तिका में रहने का आग्रह भी किया है।"

"वह यहाँ रहेंगे भी?"

"हाँ, क्यों नहीं! मालवेन्द्र का आग्रह टालने की क्षमता किसमें है! वास्तव में सु-राज्य वही है जहाँ दूर से आ, विद्वान् बसते हों।"

"पिताजी उन्हें प्रासाद में भी ले गए होंगे?"

—प्रियं ने पूछा।

"प्रासाद में ही नहीं, मालवेन्द्र तो उन्हें त्रिशूलि के मन्दिर में भी ले गए थे।"

"महाकाल प्रकोष्ठ में?...जैनी तो हमारे देव को नहीं मानते हैं न?"

"सत्य है! क्षपणक भी महाकाल कोष्ठक में गए; परन्तु उन्हें नमन नहीं किया।"

"यह तो स्वयं-भू का अपमान हुआ!"

—सुन रहे तरुण ने कहा।

"इसमें स्वयं-भू का कोई अपमान नहीं। वास्तव में वही पुरुष धर्मनिष्ठ हैं, जो एक ही पथ पर अग्रसर है; फिर ईश्वर तो एक ही है? उसके पाने के मार्ग भिन्न-भिन्न अवश्य है। ईश्वर तो सर्वव्यापी है। जो उसे जिस भाव से भजता है वह उसी रूप में उन्हें मिलता है।"

"पिताजी को तो श्रमण का यह व्यवहार अप्रिय लगा होगा?" प्रियं ने पूछा।

"हाँ, सम्भवतः। तभी उन्होंने मुस्कराते हुए पूछा भी था—

"क्या आप सर्व-धर्मों को समदृष्टि से नहीं देखते?"

"श्रमण क्या बोले?" तरुण ने पूछा।

"देखता हूँ!"—आचार्य आगे कहने लगे—

"जब क्षपणक का यह उत्तर मिला तो विक्रम ने उनसे महाकाल के ज्योतिलिंग को नमन करने का आग्रह किया। क्षपणक ने कहा यदि मैं इन्हें नमन करूँगा, तो यहाँ मेरा इष्ट प्रकट हो जाएगा। मालवेन्द्र बोले, "तो क्या हुआ मेरे धर्म-प्रभाव से वह अदृश्य भी हो सकते हैं ?"

"फिर क्या हुआ ?"—प्रियं ने आश्चर्य में पूछा।

"एक अनदेखा चमत्कार! क्षपणक ने स्वयंभू को नमन किया, एक पार्श्वनाथ की नग्न प्रतिमा वहाँ प्रकट हुई और तत्क्षण अदृश्य भी हो गई! स्वयं-भू, स्वयं-भू ही रहे।"

"बड़ी विचित्र बात है !"

"मालवेन्द्र की धर्म निष्ठा एवं प्रतिभा पर वस्तुतः मैं आज चमत्कृत हुआ हूँ !"

प्रियं और तरुण भी विस्मित हो कुछ सोच रहे थे। आचार्य उन्हें आश्रम में ले आए।

# १३

## नगर-चर्चा

प्रियंगुमंजरी तरुण से आकर्षित है, जब आचार्य को यह ज्ञात हो गया, तो वे मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हुए। तरुण का इतने शीघ्र विद्यापीठ का निष्णात् हो जाना भला किससे छिपा था—? अल्पकाल में ही सब बटुओं से सर्वश्रेष्ठ घोषित होना, विद्यापीठ के बटुओं तथा श्रेष्ठियों में आश्चर्य का विषय था।

प्राचीन ग्रन्थों में दीक्षा किशोरावस्था तक ही प्राप्त करना माना जाता है। किशोरावस्था तक ही विद्यार्थी में अध्ययन-शक्ति होती है; परन्तु आचार्य वररुचि जी इस मत को नहीं मानते थे।

तरुण बाल्यकाल में जड़ था, वाल्मीकि भी तो अपने बाल्यकाल में जड़ थे। अन्तर इतना ही था कि तरुण पशुपाल और वाल्मीकि वधिक दस्यु थे। दोनों युवक हुए, सत् मार्ग मिला। वाल्मीकि को नारद से तरुण पशुपाल को वररुचि जी से जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति हुई।

नगर में स्थान-स्थान पर एक ही चर्चा सुनाई पड़ती थी।

"—कलका पशुपाल, आज आश्रम का सर्वश्रेष्ठ छात्र है।"

मार्ग, वीथि, हट्ट-अट्टिकाओं में, सभी जगह एक ही चर्चा थी; द्वापर में भगवान् कृष्ण उज्जयिनी में आकर अल्पकाल में विद्वान हुए थे, आज कलियुग के प्रथम चरण में सर्वत्र प्रसिद्ध है—तरुण-पशुपाल! एक नागरिक अपने सहचर से चर्चा करते हुए कह रहा था—कि महाकाली विद्यापीठ की वरिष्ठ—उपधा के दिन एक तरुण जो आश्रम के बटुओं में ऐसा तेजस्वी लगता था, मानों जनक के धनुष-यज्ञ में सब राजाओं में राम। सब बटुओं से उपधा में वेद के भाँति-भाँति के प्रश्न पूछे गए। कोई भी बटु यथार्थ उत्तर दे नहीं पा रहे थे; परन्तु उस तरुण ने पूछे गए श्लोकों के खण्ड-खण्ड कर ऐसे पाण्डित्य से समझाया कि जन साधारण तो क्या स्वतः दूर विद्यालयों के आमंत्रित निराकरण कर्ता विद्वान्-गण भी उससे अत्यन्त प्रभावित हुए। पास ही बैठे मालवेन्द्र गद् गद् हो गए थे।

"फिर...!"—व्यक्ति ने उत्सुकता से पूछा—

उस तरुण ने प्राचार्य के आदेश से प्रकृति की मनोरम छटा पर और स्वर्गीय कवि भास तथा आदि कवि वाल्मीकि की स्मृति में दो छन्द सुनाए। प्रत्येक छन्द में अनेक अलंकार थे। जिन्हें सुन कर स्वतः मालवेन्द्र ने करतल ध्वनि की, फिर जन-साधारण की तो बात ही क्या!"

—"तरुण को पुरस्कृत किया होगा?"

"अवश्य-अवश्य! वह पुरस्कार मिला जो युगों से किसी को मिल नहीं पाया था।"

"हम भी तो जाने—!"—एक नव आगन्तुक ने पूछा।

"हाँ, हाँ मित्र, सुनो! महाकाली विद्यापीठ का गौरव-पूर्ण छात्र होने तथा वर्षों के सर्वश्रेष्ठों से भी उच्च स्तर स्नातक होने के कारण सर्व सम्मति से उस प्रखर तरुण को "कालिदास" की उपाधि से विभूषित किया गया।"

"साधु-साधु! माँ सरस्वती जिस पर प्रसन्न होती है तो ऐसे ही। कहाँ वह पशुपाल था, और अब नगर का सर्वश्रेष्ठ स्नातक!"

—एक वृद्ध श्रेष्ठि ने हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की। इस पर एक नागरिक बोला—

"और हाँ, मालवेन्द्र विक्रम ने उसे अपनी राज्य-सभा का सदस्य नियुक्त कर लिया है।"

एक व्यक्ति प्रमुदित होता हुआ बोला—

"निःसन्देह वह तरुण-कवि राज्य-सम्मान के योग्य है। ओह! क्या कविता छन्द सुनाया था उसने?"

इस पर एक नागरिक हँस कर बोला—

"तब तो मित्र! नगर-कवि घट-खर्पर डर गए होंगे?"

"इसमें डरने की क्या बात? सच्चा कवि तो वही है जो दूसरे कवि को देखकर प्रसन्न हो। नगर-कवि तो बहुत ही प्रसन्न थे।"

"न न न, वयस्य! यह बात नहीं है। उनकी प्रतिज्ञा का प्रश्न है।"

"नगर कवि की प्रतिज्ञा?"

हाँ, एक बार नगर कवि घटखर्परजी ने मालवेन्द्र को अलंकार से परिपूर्ण एक सुन्दर सा छन्द सुनाया था। इस पर मालवेन्द्र हँसकर बोले थे—"कविराज! आप तो अलंकारों के सम्राट हैं।" घटखर्पर ने तत्काल कहा था—मेरे छन्दों का भूषण अलंकार ही है। मेरी प्रतिज्ञा ही है कि आर्यावर्त में कोई भी कवि मेरे समान छन्दों में अलंकार जोड़ सका तो मैं उस कवि के घर फूटे घट से पानी भरूँगा!"

"मित्र! विचित्र प्रतिज्ञा है!"

"भन्ते! वास्तव में कविराज के समान कविता में कोई भी अलंकार नहीं जोड़ सकता! उन्हें तो 'महावीर' का वरदान है।"

—एक जैन मतावलम्बी बोला।

"तरुण को भी तो महाकाली का वरदान है। वह भी एक दिन ऐसी रेखा खींचेगा, जो लक्ष्मण की रेखा के समान ही अमिट होगी।"

"भन्ते! इसका उत्तर कुछ काल पश्चात मिल जायगा।"

"क्या मिल जायगा?"

"यही कि जब कवियों में श्रेष्ठ घटखर्पर जी अपने ग्रन्थ का पाठ मालवेन्द्र की सभा में करेंगे। तब तुम्हें ज्ञात होगा कि उनकी प्रतिज्ञा भी अंगद के चरण के समान अडिग है।"

"उचित तो है। आपस में विवाद करने की क्या आवश्यकता!"

—एक ने चल रहे विवाद को रोका।

"हाँ, हाँ ठीक ही! सब मालवेन्द्र की सभा में सम्मुख आवेगा ही व्यर्थ विवाद क्यों करें।"

—दूसरे ने कहा

और सब अपने अपने मार्ग पर अग्रसर हो गए।

# १४

## प्रियं और तरुण

आचार्य वररुचिजी कुछ दिन हुए वराहमिहरजी के साथ एक ज्योतिष ग्रन्थ-रचना-हेतु कापित्थ ग्राम गए हुए थे। उन्हें वहीं विद्यापीठ की वरिष्ठ-बटु--उपधा का आमंत्रण-पत्र भी प्राप्त हुआ। सम्राट विक्रम ने भी एक विशेष व्यक्तिगत पत्र में आचार्य को यह लिखा था कि, विद्यापीठ में उपधा होने वाली है, जिसमें वराहमिहर जी एवं उनकी उपस्थिति आवश्यक है।

कापित्थ से उज्जयिनी कोई दूर नहीं। इसी कारण दोनों आचार्य जिस दिन उपधा थी उसी तिथि को प्रातः दिन चढ़े ही अपने दिव्यरथ पर बैठ कापित्थ से उज्जयिनी हेतु रवाना हुए। परन्तु होनहार बलवान है। मार्ग में ही रथ के पहिए का "चाका" टूट गया। अन्य कोई साधन नहीं था। पथ भी आज न जाने किस कारण से सुन-सान था।

वाहन का साधन न जुटता देख दोनों वृद्ध आचार्य अविलम्ब पैदल ही अवन्तिका की दिशा को अग्रसर हो गए। आचार्य आज उड़ने को उद्यत थे। तरुण की उपधा जो होने वाली थी; परन्तु जिस गति से उनके

पैर उठ रहे थे उसी गति से चलकर सूर्य भी आज अस्ताचल में जाकर तत्काल छिप गया।

उज्जयिनी आते-आते ही दो दण्ड रात्रि व्यतीत हो गयी। बराह-मिहर जी मार्ग से ही अपने निवास-स्थान को चले गए थे।

आचार्य के आश्रम में पैर रखते ही एक अन्तेवासी ने कहा—

"देव! उपधा में तरुण ही सर्वश्रेष्ठ रहे। सर्वसम्मति से स्नातक तरुण को—"कालिदास" की उपाधि से विभूषित किया है।"

आचार्य हर्ष से विभोर हो गए। प्रेमवश उनके विशाल चक्षु जलमग्न हुए। वे मनही मन बोले—

"वत्स! मैं आज धन्य हुआ।"

अन्तेवासी ने बताया—

"वह आज रात्रि चढ़े तक आपकी प्रतीक्षा करते रहे। उदास मुख हो उन्हें लौट जाना पड़ा।"

आचार्य तरुण से मिलने के लिए आतुर हो उठे...परन्तु रात्रि थी।

आज यह रात्रि आचार्य ने तारे गिन कर ही बिताया। और प्रातः जब वे स्नानादि क्रियाओं से निवृत्त हो विद्यापीठ जाने को उद्यत हुए तभी पृष्ठ भाग से कर्ण-प्रिय ध्वनि हुई—

"पूज्यवर! प्रणाम।"

—हर्षित हो आचार्य ने मुड़कर देखा। स्निग्ध गात तरुण उनके चरणों पर झुका पद-वन्दन कर रहा था।

आचार्य ने भुजा पकड़कर तरुण को वक्ष स्थल से लगा लिया। और कहा—

"वत्स! मेरा मन न जाने क्यों तेरी विजय पर मुग्ध हो नाच

रहा है। मुझे मेरा आश्रम झूमता-सा प्रतीत हो रहा है। वत्स तुझे देख मैं मुग्ध हो रहा हूँ !"

हर्षावेश में आचार्य की रोमावलियाँ खड़ी हो गई थी एवं चक्षु जल मग्न थे।

आचार्य से पर्याप्त स्नेह पाकर तरुण भी आत्म विभोर हो उठा। बोला—

"पूज्यवर ! आप उपधा में न आ पाए ? सभी ने आपकी बहुत प्रतीक्षा की।"

"हाँ, वत्स !" आचार्य गंभीर हुए—"मैं अभागा तेरे उपाधिदान को भी इन चक्षुओं से नहीं देख सका। वत्स, हम कापित्थ से तो भोर में ही चल दिये थे; परन्तु विधि बलवान है। उज्जयिनी आए तब दो दण्ड रात्रि व्यतीत हो चुकी थी।"

और आचार्य ने मार्ग की सभी बातें सक्रम कह सुनाई। वह कहने लगे—

"वत्स ! रात्रि को ही मुझे तेरी विजय का शुभ सन्देश मिला। रात्रि अधिक व्यतीत हो चुकी थी इसी से नहीं आ पाया; परन्तु यह रात्रि किस प्रकार कटी स्वयंभू ही जाने।"

"पूज्यवर ! यही दशा मेरी भी रही।" तरुण ने कहा।

आचार्य पुनः गम्भीर हुए—"प्रभु त्रिशूलि को यही स्वीकार होगा वत्स !" और एकाएक उन्हें कुछ स्मरण हो आया बोले—

"पुत्र ! तू कविता भी करता है ?"

"प्रयास करता हूँ, देव !"

"और प्रयास स्वयंभू सफल करेंगे। यह तूने मुझसे अभी तक क्यों छिपाया ?

"संकोच ही कारण रहा, आचार्यवर !...परन्तु यह विद्यापीठ के आचार्य को तो ज्ञात था। उन्होंने नहीं कहा ?"

"ऐसा कोई प्रसंग ही नहीं आया, तो क्या कहें तू ने भी तो कहने में संकोच किया...?"

तरुण मौन था।

"तुम पर तो सरस्वती प्रसन्न हैं।"

—आचार्य ने तरुण की प्रशंसा में एक वाक्य और कहा।

"आपका कृपा-प्रसाद है पूज्यवर !"

"माँ सरस्वती का...?"

आश्रम के द्वार पर ध्वनि सुनाई दी। आचार्य ने मुड़कर देखा; प्रियंगुमंजरी थी। आचार्य हँसे—"लो, प्रियं भी आ गई।"

प्रियंगुमञ्जरी आज प्रात: शीघ्र ही आ गई, आचार्य को आश्चर्य नहीं हुआ। तरुण को "कालिदास" की उपाधि से विभूषित किया गया है—यह समाचार विद्युत की गति से समूचे नगर में व्याप्त हो चुका था। कुमारी प्रियं भी इस हर्ष की वेला में अपने तरुण से मिलने के लिए उत्सुक थी।

"प्रणाम आचार्यवर !" प्रियं ने प्रवेश करते ही आचार्य को प्रणाम किया और सत्वर ही तरुण की ओर शिष्टता से झुककर कहा—

"आपको भी प्रणाम एवं विजय के उपलक्ष में अभिनन्दन !"

तरुण ने कुछ स्मित किया और प्रत्युत्तर में हाथ जोड़ लिए।

आचार्य आज हर्ष के विशाल सागर में गोते खा रहे थे। क्षण-प्रतिक्षण उनकी यह प्रसन्नता मुस्कुराहट के रूप में उनके ओठों पर आकर छलक रही थी। उन्होंने दोनों को समीप आसन पर बैठाया।

कुछ क्षण पश्चात उन्होंने अपलक तरुण को निहारते, प्रियंगुमंजरी से पूछा—

"बेटी ! तरुण के उपाधिदान से तू भी प्रसन्न है न ?"

—यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर आचार्य जानते थे।

प्रियंगुमंजरी लजा-सी गई। तरुण आचार्य के इस भोले प्रश्न पर

मुस्करा रहा था। प्रियं ने तरुण को देखा और रोम-रोम में स्फुरण हुआ। उसकी पलकें झुक गईं एवं कोमल उँगलियाँ मृगचर्म के रोओं से खेलने लगीं।

"पूज्यवर! समिधा तैयार है।"

—एक अन्तेवासी ने आ-मौन भंग किया।

"आया वत्स!" आचार्य खड़े हो गए और तरुण की ओर मुँखकर कहने लगे—"देखा, प्रसन्नता में मैं नित्यकर्म भी भूल गया। तुम दोनों अकेले यहाँ क्या करोगे? उपवन में माधवी तले ही बैठो। निवृत्त होने पर बुलवा लूँगा।"

—आचार्य पार्श्व में चले गए।

प्रियं और तरुण भी कुछ क्षणों पश्चात माधवी तले आ एक शिला-खण्ड पर बैठ गये।

"यह आश्रम आपको कैसा लगता है?"

—प्रियं ने चर्चा आरम्भ करने के लिए प्रश्न किया।

"बहुत अच्छा!"

"आप तो कविता करते हैं! मुझ पर भी एक बनाइए?"

तरुण मुस्कराया और उसने प्रियं के लालिमामय मुखमंडल की ओर देखा।

"नहीं बनाएँगे?"

"आप ठीक सोचती हैं!" तरुण मुस्कराया और कहने लगा—"जितने भाव आप में हैं, उतने मेरी कविता में आना सम्भव नहीं।"

प्रियं मन ही मन बहुत प्रसन्न हुई। उसने कुछ लजा कर तरुण के मुखमण्डल पर झाँका। दोनों के नेत्र मिल गए। दोनों मुस्कराए।

प्रियं के मन में आया कि वह तरुण से पूछ ले कि—मेरे प्रति आपके क्या विचार है? क्या आपको भली लगती हूँ?...परन्तु प्रियं ने कुछ न पूछा।

दोनों मौन बैठे लता-मण्डप पर छाई पुष्प-लता को देख रहे थे।

"यह अरुण पुष्प कितना मोहक है!" —प्रियंगुमञ्जरी ने मौन भंग किया।

—"ठीक आपके कपोल-सा!" —अकस्मात् तरुण कह उठा।

प्रियंगुमंजरी लजा गई।

"क्यों गलत कहा?" —तरुण ने प्रश्न किया।

प्रियंगुमंजरी मौन रही। लज्जावश उसका मुख और भी रक्तिम हो उठा था।

"सम्भवतः मैं अनुपयुक्त कह गया, अपराध हुआ क्षमा करें।"

—तरुण को अपनी भूल ज्ञात हुई और वह उठ खड़ा हुआ।

तरुण को उठता देख प्रियं ने एका-एक ही अनजाने में तरुण का हाथ पकड़ कर रोका—"आप तो रूठ गए!"

तरुण के शरीर में एक क्षण विद्युत-सा संचार हुआ। वह मुड़कर कुछ हँसा...।

इस पर प्रियंगुमंजरी पुनः लजा गई। उसने तरुण का हाथ छोड़ दिया। साथ ही उसके नेत्रों में से दो बड़े-बड़े अश्रु-मोती ढुलक कर कपोल पर फैल गए।

"मुझसे कुछ अपराध हुआ,...क्या?"—नारी हृदय से अपरिचित, अबोध तरुण ने विचलित हो प्रियं से प्रश्न किया।

प्रियंगुमंजरी ने अपनी याचिका-दृष्टि तरुण के मुख पर केन्द्रित की। प्रत्युत्तर कुछ नहीं दिया।

विचलित हो तरुण ने पुनः कहा—

"यदि अनजान में मुझसे कुछ अपराध हुआ हो, उसके लिए क्षमा करें।"

अब प्रियं के नेत्रों से निकल कर अश्रुधार वक्ष पर चूने लगी। वह अपने स्नेह को पूर्ण-प्रकट कर चुकी थी; किन्तु तरुण निर्विकार था, अबोध

बना रहा। बोला—"मैं विश्वास दिलाता हूँ, कुमारी, कि भविष्य में इस प्रकार की अभद्रता मुझसे नहीं होगी!" तरुण आचार्य के आश्रम में जाने को उद्यत हुआ। न जाने क्यों एकाएक ही प्रियं तरुण के वक्ष से चिपक उठी।

"...मुझे आपसे स्नेह है...!"

तरुण अवाक् था। एक क्षण के लिए वह स्तंभित हो गया।... निःष्क्रय, निःश्चेतन।

दोनों के धड़कते हुए हृदय क्षण भर के लिए एक दूसरे का स्पन्दन सुन रहे थे। अमराई में खेलती वायु तुनक-तुनक कर संगीत छेड़ती रही।

## १५

# महाकाली के प्रकोष्ठ में

कालिदास, विद्यापीठ के आश्रम में महाकाली-प्रकोष्ठ के प्रांगण में बैठा वाल्मीकि के ग्रन्थ रामायण का अध्ययन कर रहा था। समीप ही भास लिखित-नाटक "वासवदत्ता"—अधखुला पड़ा था।

तरुण कवि, लवकुश काण्ड में वनवासी सीता के आदर्श-जीवन का अध्ययन कर रहा था। अध्ययन में लवलीन उसके मानस पटल पर अकस्मात ही राकेन्दु-सी मनमोहक छवि उभर आई, और उसका ध्यान भंग हो गया। ग्रन्थ को बन्द कर वह वहीं कुछ समय तक टहलता रहा। वह अपने आप में ही किसी प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न कर रहा था। उसके विशाल चक्षु महाकाली की भव्य प्रतिमा पर जाकर टिक गए, टिके ही रह गए। न जाने कब तक उसकी यह मूक प्रार्थना चलती रहती; परन्तु इसी मध्य विद्यापीठ के प्राचार्य ने कोष्ठक में प्रवेश किया। तरुण को इस प्रकार देखकर वे बोले—"वत्स! किस भाव में मग्न हो?"

"कुछ नहीं!"—कालिदास, पकड़े गए अपराधी के समान सहम उठा।

"फिर महाकाली की प्रतिमा में क्या देख रहे थे ?" आचार्य ने मुस्करा कर पूछा।

"भोर ही से ग्रन्थ पढ़ रहा था। जी ऊब गया तो सोचा कुछ टहल लूँ।"

"वत्स ! रामायण का अध्ययन कर रहे हो न ?"

"हाँ, देव ! न जाने क्यों मुझे आदि कवि की इस रचना से मोह है।"

"वत्स ! तुझे ही नहीं, आर्य मात्र को इससे मोह है। उनमें विचित्र कवित्व शक्ति थी !"

"क्या माँ काली मुझे ऐसी शक्ति प्रदान करेंगी ?"

"वत्स ! तुम तो कालिदास हो !! तुम्हें शक्ति क्यों न प्राप्त होगी ? यह तो तुम में जन्म से ही विद्यमान है; किन्तु उसे प्रकट करना, उसका विकास करना तुम्हारे हाथ है। कवित्व-शक्ति भी पर्वत तुल्य भारी है। उसे उठाने के लिए तुम्हें वाल्मीकि का "हनुमान" बनना पड़ेगा !"

"आपका आशीर्वाद रहा, तो देव ! मैं अवश्य बन सकूँगा।" कालिदास ने उत्साहित होकर कहा।

"वत्स, मैं प्रेरणा देने का अधिकारी हूँ, उससे प्रेरित होकर लगन से प्रयत्न करने के तुम !" सहसा आचार्य की दृष्टि नीचे रखे ग्रन्थ "वासवदत्ता" पर पड़ी। और उन्होंने कहा—"और यह क्या 'वासवदत्ता' भी पढ़ रहे थे ?"

"हाँ, देव ! आदि कवि के श्लोकों में एवं भास के श्लोकों में कहीं-कहीं साम्य दृष्टिगोचर होता है; यही मैं देख रहा था। यद्यपि यह रचना भी मुझे बहुत प्रिय है !"

आचार्य ने स्मित हास्य किया एवं विषयान्तर कर बोले—"स्वस्ति स्वति ! हां वत्स ! आज तुम आचार्य वररुचि के आश्रम में नहीं गए ?"

"हाँ, देव !"—कालिदास कुछ गम्भीर हुआ।

"भला क्यों ? वह तुम्हारी प्रतीक्षा में होंगे !"

"अवश्य, वह मुझसे पुत्र-तुल्य ही स्नेह रखते हैं; परन्तु अब मैं सोचता हूँ—वहाँ यदा-कदा ही जाया करूँ ।"

—यदा-कदा ही...!...क्यों ?" आचार्य को आश्चर्य हुआ ।

"वहाँ जाने से अध्ययन में बाधा पड़ती है ।"

"ऐसा क्यों ? वहाँ कैसी बाधा ?"

"देव ! मेरा मन न जाने क्यों उस आश्रम में जाने पर अत्यधिक रम जाता है, फिर इधर आने को जी नहीं चाहता !"

आचार्य मुस्कराए—"तब तुम वहीं अध्ययन किया करो ?"

आचार्य मुड़ने को हुए । कालिदास ने कुछ रुक कर कहा—

"देव, आजमैं...।"

"क्या वत्स !"—आचार्य रुके ।

"आज मैं आप से कुछ पूछना चाहता था !" कालिदास ने संकोच से रुकते-रुकते कहा । उसने निश्चय कर लिया था कि—गुरुदेव से कुछ नहीं छिपाना है ।

हाँ, हाँ, पूछो न वत्स !"

"आपने कहा था कि विद्यार्थी जीवन में किसी भी नारी से एकान्त में वार्तालाप न करो !"

"हाँ, कहा था ! तब ?"

"देव ! यदि ऐसा कोई...अवसर आवे तो !"

"उतना ही बोलो, जितना आवश्यक है ।"

"किन्तु यदि अधिक बोलना ही पड़े तो ?"

"बोलो । किन्तु अपने नेत्रों को अवनी पर किए रहो, जिससे मनमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो ।" आचार्य कुछ मुस्कराए और कालिदास के भावुक मुख का अवलोकन करते हुए बोले—"क्या ऐसी कोई परिस्थिति तुम्हें बाध्य करती है ?"

"हाँ, देव !"—कवि की दृष्टि अवनी पर हो गई।

"यहाँ आश्रम में तो किसी नारी का आगमन नहीं ?"

"आचार्य वररुचिजी के आश्रम में। आचार्य ने स्वतः ही वार्तालाप की आज्ञा भी दे दी है।"

"कौन है वह ?"

"अवन्ती की राजकुमारी !"

"कौन, कुमारी प्रियंगुमंजरी ?" आचार्य ने साश्चर्य पूछा।

"हाँ, देव ?"

"क्या वार्तालाप होता है ? आचार्य ने पूछ तो लिया; किन्तु स्वतः अपने ही प्रश्न पर संकुचित-से होकर बोले—"क्या उस वार्तालाप से मन में कुछ विकार उत्पन्न होता है ?"

तरुण मौन रहा।

"तुम्हारे मन में उसके प्रति प्रणय-भावना उपजती है क्या ?"

तरुण मौन। उसने अपने मस्तक को नीचे झुका लिया।

"बोलो, बोलो वत्स ? गुरुजन से सत्य को छिपाना उचित नहीं !"

"मैं अपने अपराध को स्वीकार कर रहा हूँ गुरुदेव ! विद्यार्थी के पुनीत-पथ से भटककर मेरे द्वारा हुए इस अपराध को क्या आप क्षमा करेंगे ?"

"यह मेरे प्रश्न का उत्तर तो नहीं ?" आचार्य कुछ हँसे।

"क्या, देव !"

"उसके प्रति तुम्हारे हृदय में प्रणय भावना उपजती है क्या ?"

—आचार्य ने अपने प्रश्न को पुनः दोहराया।

"हाँ, देव ! न जाने क्यों ?"

"और वह तुमपर आकर्षित है ! विचित्र बात है !! क्या वह अपनी प्रतीज्ञा भूल चुकी है ?"

"प्रतिज्ञा देव !"

"वत्स ! उसमें बाल्यकालीन उच्छृङ्खलता ही है। उसने स्वयं-भू के समक्ष प्रतिज्ञा की है कि "आचार्य वररुचिजी का गुरु ही मेरा पति हो।"

"इस प्रतीज्ञा के सम्बन्ध में चर्चा किया तो था !"

"यह कहते हुए भी वह तुम पर आसक्त है ! क्या उसका प्रेम क्षणिक तो नहीं ?"

"नहीं देव ! मुझे उस पर पूर्ण विश्वास है।"

"वत्स ! सत्य है। विश्वास पर ही भक्ति और प्रेम निर्भर है; परन्तु उसकी प्रतिज्ञा भी तो विचित्र है।"

"देव, वह कहती है, मुझे पा जाने पर उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाएगी।"

"ऐसा तुम भी मानते हो ?" आचार्य मुस्कराए।

"हाँ, देव !"

"क्यों, कैसे ?"—कवि की ओर आचार्य ने विचित्र ढंग से देखा।

"मैं बाल्यकाल का पशुपाल ही तो हूँ !"

"परन्तु वररुचिजी के गुरु तो नहीं ?" आचार्य ने गंभीरता से कहा।

"देव ! आचार्य मुझे गुरु ही मानते हैं।"—कवि कुछ-कुछ हँसा।

"वह कैसे ?"

"महाकाल कान्तर में मैंने एक शब्द आचार्य को बतलाया था, जो उन्हें ज्ञात नहीं था। इसी से वह मुझे गुरु ही मानते हैं।"

"वह शब्द ?"—आचार्य ने पूछा।

"देव, एक समय आचार्य को तृषा व्याकुल कर रही थी। जल कहीं नहीं था। मैंने उनसे दूध पी लेने के लिए "करचण्डी" बनाने का निवेदन किया था।"

—कालीदास ने दोनों हाथ जोड़ "करचण्डी" बनाई।

आचार्य हँस पड़े—"करचण्डी ! हाँ-हाँ बहुत पूर्व वररुचिजी ने यह कथा मुझसे कही थी।"

"यही "करचण्डी" तो मुझे आपके आश्रम तक ला पाई है, देव !"

"वत्स ! बचपन से ही तुम तीव्र-बुद्धि के रहे हो ?"

आचार्य-मुस्कराए और जाने को उद्यत हुए।

"देव ! आपने मुझे कुछ कहा नहीं ?" कालिदास ने उत्सुक हो पूछा।

"क्या वत्स !"

तरुण लजा गया कुछ न बोला। आचार्य हँसे और बोले—अच्छा ! मैंने समझ लिया !! वत्स, अब तुम स्नातक हो, मालवेन्द्र की सभा के सभासदस्य भी ! अब तुम्हें कोई बाधा नहीं।" आचार्य कुछ मुस्कराए। "फिर तुम्हें वररुचिजी की भी तो आज्ञा मिल चुकी है। उनसे अधिक तुम पर मेरा अधिकार नहीं ! जाओ वत्स, विलम्ब हो जाने पर कहीं ऐसा न हो कि स्वतः आचार्य ही यहाँ कष्ट करें।"

"जो आज्ञा।" मन्द मन्द मुस्काते हुए आचार्य कोष्ठक के बाहर हो गए।

प्राचार्य की आज्ञा मिल जाने पर कालिदास बहुत प्रसन्न हुआ। एक बार उसके नेत्रों के सम्मुख अतीत के दृश्य आने लगे।...... प्रियंगुमंजरी की भोली बातें, अनोखे प्रश्न, कुछ हँसना-रोना...और फिर वक्षस्थल पर आ टिक जाना।

तरुण ने जब प्रथम बार प्रियं, को देखा था, तो उसके लावण्य से प्रभावित हो चुका था। प्रियंगुमंजरी को देखने के लिए ही वह प्रातः नियमित रूपसे आचार्य के आश्रम में जाता था।

इतना होते हुए भी प्राचार्य के आदेश उसके बाधक थे; परन्तु अब प्राचार्य के आदेश का भय भी टूट हो गया।

तरुण ने अपनी पादुका पैरों में डाली और आचार्य वररुचिजी के आश्रम की ओर अग्रसर हो गया।

# १६

## अमराई में

आचार्य वररुचि आज प्रातः ही से कहीं गए हुए थे।

कालिदास आश्रम में आचार्य को न पा उपवन में आया। माधवी तले प्रियं नहीं थी; परन्तु वह हताश नहीं हुआ क्योंकि उसे पूर्व ज्ञात था कि प्रियं यहाँ आ चुकी है।

आश्रम के बाहर प्रियं के रथ के अश्वों को उपवन में क्यारियों के आस-पास लगी दुर्वादल में चरते, तथा अङ्गरक्षकों को वहीं बैठे चर्चा करते देख आया था।

वह अमराई में पहुँचा। देखा प्रियंगुमंजरी अमराई में एक आम्र-वृक्ष की शाखा को झुकाए आम्र-मञ्जरियाँ चुन रही थी। कालिदास ने समीप जा हँसकर कहा—

"आम्र-कुसुम दल को नष्ट करना दोष है कुमारी।"

कालिदास को प्रियं ने देखा, वह खिल गई उसका अंग-प्रत्यङ्ग थिरक उठा। बोली—

"और इस प्रकार किसी को भ्रम में रखना दोष नहीं है?"

"हाँ, है तो?"

"तो क्यों ? आज इतना विलम्ब क्यों किया ?" प्रियं ने अधिकार पूर्वक कहा ।

"यदि मैं न आता तो ?" कवि मुस्कराकर बोला ।

"तो मैं भी आज प्रासाद नहीं जाती ।"

"ऐसा क्यों ?"

"इसका उत्तर आप स्वयं जानते हैं ?"

"जानता तो हूँ......!"

"मैं भी तो सुनूँ ?"

"कह दूँ ?"

"हाँ कह दो !"

"हँसोगी, फिर रोओगी । और...यही आपका उत्तर है । प्रायः ऐसा ही तो करती हो !"

"हट...?"—प्रियं को अपना रोना-हँसना और तरुण के वक्षस्थल से सट-जाना स्मृति पटल पर आया । वह लजा गई ।

"मैं झूठ कहता हूँ कुमारी ?"

"हाँ,...आप मुझे कुमारी क्यों कहते हैं ?"

"तो क्या कहूँ ?"

"मेरा नाम नहीं है ?"

"है । किन्तु कुमारी से अधिक बड़ा ।

"आप छोटा नाम रख दीजिए न !"

"रख दूँ...?"

"निः संकोच !"

"तो 'प्रियंगुमंजरी' से 'प्रिय' अभीप्सित होगा ?"

—प्रियंगुमंजरी ने लजा कर समर्थन में गर्दन हिला दिया ।

"आचार्य के सम्मुख भी प्रिय ही कहूँ ?" कवि ने व्यंग किया ।

वह और भी लजा गई।

"बोलो न ?"

"हट।"

"हट क्या, और कुछ न कहोगी ?"

"क्या ?"

"मैं 'प्रिय' कहूँ ?"—कवि मुस्कराया।

"जो आप उचित समझें !" प्रियं कुछ झुंझलाई।

"मालवेन्द्र के समक्ष भी ?"

प्रियं का मुख अब और रक्तिम हो चुका था।

"बोलो न ?"—कालिदास ने पुनः छेड़ा।

"आश्चर्य ? आज आप ऐसे प्रश्न क्यों कर रहे हैं ?"

"तुम्हें आपत्ति है ?"

"है। मैं रोऊँगी फिर...।"

"वैसे ही ?"

प्रियं मौन रही।

"रोओ। मुझे आपका रोना, हँसना—जैसा आप मुख बनाती है—सब प्रिय लगता है।"

"तो...फिर...?"

"जी चाहता है कि अधरामृत पान...करूँ !"

"तो करलो ?"

"करलूँ !!"

प्रियं भावावेश में अनुमति तो दे गई; परन्तु अपने आप में ही कछुए की भाँति सिकुड़ने लगी। कहीं...। परन्तु कालिदास ने विलंब नहीं किया। उसने प्रियंगुमंजरी की दोनों कमल-नाल सी कोमल भुजाओं को कसकर पकड़ लिया और एक ही क्षण में कवि के गरम अधर प्रियं के शीतल अधर से जा लगे।

प्रियंगुमंजरी सिहर उठी, मानों उसकी पीठ पर शीतलजल की वृष्टि हो उठी हो। अब उसके चंचलनेत्र कवि के मुखपर नहीं टिक सके।

कालिदास के कपोल गर्म हो गए, उसके कान की एक नस चटक गई। उसके रोम-रोम खड़े हो चुके थे। विशाल भाल पर घुँघराले केश की दो लटें चली आई थीं। सम्भवतः यह क्रीड़ा निकट से देखने...।

सहसा ऊपर आम्र-शाखा से कोयल कुहकती तथा आम्र-पत्तों को खड़-खड़ाती हुई अमराई के बाहर उड़ गई।

कालिदास हँसा—"पगली कोयल को यह नहीं सुहाया।"

प्रियंगुमंजरी मौन रही।

"आचार्य आज नहीं आएँगे?"—कवि ने पूछा।

प्रियं ने गर्दन हिला संकेत किया—"नहीं।"

"आपसे कहकर गए थे?"

"आप मुझे यह 'आप' 'आप' क्यों कहते हैं? क्या मैं आप से बड़ी हूँ?"

"क्यों नहीं!"

"किस बात में?"

"रूप और गुण में।"

"हट!"—प्रियं फिर लजाई।

"क्यों नहीं हो, अद्वितीय?"

"यदि आप ऐसा सोचते हैं, तो मुझपर कविता क्यों नहीं रचते?"

"तुमपर कविता नहीं रची जा सकती।"

"क्यों नहीं रची जा सकती?"

"क्यों कि इससे आपका महत्व घटता है।"

"फिर 'आप' कहा मुझे?"

"फिर क्या कहूँ?"

"आपने ही तो नाम दिया है मुझे—"प्रिय' !"

"क्या, एक बार और कहो ?"

"अब आपकी बारी है !"—प्रियं लजा गई।

"नहीं, यह नाम आपके मुख से रुचता है !"

प्रियं मौन।

"कहो न ?"

प्रियं फिर भी मौन रही।

"यदि कोई भद्र पुरुष परिचय माँगे, तो न देना—क्या यह शिष्टाचार है ?"

"हट !" प्रियं लजाई

"यह उत्तर है ?"

"हट !"

"अरे, पुनः वही 'हट !"

"अब न सताइए, मैं...।"

"रो दूँगी।" कवि ने वाक्य पूरा किया—"रोने का तो तुम्हें अभ्यास है।"

"हट !"

"फिर हट ?"—कवि खुल कर हँसा।

हट, फिर हट, की उलझन से छूटने के लिए प्रियंगुमंजरी तरुण के विशाल वक्षस्थल से सिमट गई। बोली—"आप मुझे ऐसे प्रश्नों में क्यों उलझाते हैं ?"

"तुम्हारी हट सुनने को।" कहकर कवि ने प्रियं की चिबुक पकड़ कर मुख को ऊपर उठाया।

अनायास पवन अमराई में उन्मादित हो, द्रुतगति से प्रवाहित होने लगा। दोनों के केश उड़ने लगे।

अमराई में आम के पत्तों ने हर्षध्वनि की। आम्र शाखाएँ चर... रर...चर...का गीत गाने लगीं।

दोनों एक थे—प्रिय और कवि ...।

आचार्य वररुचि जब लौटे तो अमराई के मार्ग से ही। कहीं से आ बैठी कोयल ने कुहू-कुहू किया।

कोयल ने अपनी भाषा में 'मार्ग निषेध है'—कहा था। बावरी कोयल क्या कह गई आचार्य,नहीं समझ सके। वह अपनी धुन में कमण्डल झुलाते चले आ रहे थे।

कुछ दूर देखकर वे ठिठके। उनके पग आगे न बढ़ पाए। उनके विशाल चक्षुओं ने पलकों का आवरण ले लिया।

आचार्य मार्ग बदल कर आश्रम में आ गए। आज उनका मन प्रसन्न अवश्य था।

## १७

# आचार्य के प्रश्न

आचार्य वररुचि का उपवन "तरुण-कालिदास तथा नव-विकसित यौवना कुमारी प्रियंगुमंजरी का प्रणय-लीला बन गया था।

आचार्य समझ चुके थे कि दोनों एक दूसरे से पर्याप्त घुल-मिल चुके हैं। अब तो दोनों आचार्य के समक्ष भी वाद-विवाद करने लगे थे। तर्क-वितर्क करते करते समय अपने तर्क को प्रबल बताते हुए दोनों कभी-कभी उग्र हो जाते। आचार्य दोनों को समाधान देते, दोनों के दूध-पानी से व्यवहार से वे मन ही मन प्रसन्न थे।

ज्ञान-चर्चा तथा तर्कों में प्रियं की पण्डिताई झलकती थी। तरुण प्रियं को प्रायः चिढ़ाने को अप्रासंगिक तर्क ही समक्ष रखता, जिसके खण्डन में प्रियं को कुछ कठिनाई ही हो। प्रियं तरुण के इन तर्कों का कुशलता-पूर्वक खण्डन करती, जिसका समर्थन आचार्य भी करते। अपनी विजय पर प्रियं मुक्त-हास्य करती; जिससे तरुण कुछ लज्जित हो; परन्तु तरुण भी प्रियंगुमंजरी के इस चांचल्यपूर्ण व्यवहार से हँस देता था, इसमें तरुण

को आचार्य का साथ मिलता था। हँसी के मर्म को न समझ प्रायः वह रूठ जाती; आचार्य यहाँ भी समाधान देते।

यह सब तो आचार्य के समक्ष की बातें थीं। उपवन में दूसरी, चर्चा, दूसरे ही राग-रंग होते। क्षिप्रा का पावन तट, आचार्य का उपवन, अमराई, उद्यान, लहराते खेत और अन्य स्थल--कवि-प्रियं से छूट नहीं पाए थे।

आज कालिदास की अनुपस्थिति में आचार्य ने प्रियंगुमंजरी से पूछा—

"पुत्रि! तुम्हें तरुण से प्रीति है?"

प्रियं आचर्य के आकस्मिक ऐसे प्रश्न कर लेने से विचलित हुई तथा सकुचा गई।

प्रियं की सकुचाई मुख-मुद्रा देख आचार्य सांत्वना देते हुए बोले—

"बेटी! अथर्ववेद में उल्लेख है कि सब तरह से योग्य वर को तरुणाई पाने पर नारी को अपना वर स्वेच्छा से ही चुन लेना चाहिए। सत्य कहो, तुम्हें कालिदास से प्रीति है?"

प्रियंगुमंजरी प्रत्युत्तर न दे पाई; परन्तु नेत्रों ने सभी कुछ कह दिया। मुख पर लालिमा छा गई। लज्जा से उसका मुख अवनी पर झुक गया। आचार्य उसके मुख से ही कहलवाना चाहते थे—

"बेटी! तुमने अपने भविष्य के सम्बन्ध में भी कुछ विचार किया है?"

प्रियं की हंस-सी गर्दन स्वीकृति में कुछ हिली।

"क्या विचार किया?"

प्रियं पुनः मौन।

आचार्य ने पुनः पूछा—

'तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा याद है न?"

—प्रियंगुमंजरी की गर्दन पुनः 'हाँ' के रूप में हिली। वह बोली कुछ नहीं।

"बेटी! तुम्हारी प्रतिज्ञा कालिदास से संगति खाती है! कहो, तुम्हें उससे प्रीति है?"

"हाँ!"—प्रियंगुमंजरी के मुख पर लज्जा का आवरण पूर्ण रूपेण छा चुका था।

"और उसको तुमसे है—यह मुझसे नहीं छिपा है! आचार्य गंभीर हुए—"परन्तु तुमने यह सोचा है कि इसे कब तक रहस्यमय बनाए रखोगी?"

आचार्य के इस प्रश्न ने प्रियं के शरीर में कम्पन उत्पन्न कर दिया। वह मौन रही।

"मालवेन्द्र के कानों तक तो यह बात पहुँचनी थी!...तुम्हारी प्रतिज्ञा पर सम्राट कुछ विचार करते हैं, या नहीं।"

"सोचते हैं!" प्रियं ने मौन तोड़ा—"मुझे देख कर चिन्तित हो जाते हैं!"

"स्वस्ति, स्वस्ति! कोई उपाय?"

"कहते हैं—इसे यावज्जन्म कुमारी ही रहना पड़ेगा!"

"किसके समक्ष?"

"सभी के...!"—प्रियं के नेत्रों से सहसा दो आँसू ढुलक पड़े।

आचार्य के हृदय का वात्सल्य जागृत हुआ। वे प्रियं की पीठ पर दुलार का हाथ फेरने लगे और बोले—

"बेटी! आत्मविश्वास मत त्यागो! तुम्हारा वर-चुनाव उत्तम है—वेदानुकुल!!"

सहसा आचार्य खड़े हुए—"बेटी! एक बात याद रखना, तुम

दोनों प्रेम को प्रेम की कसौटी पर रखना, कर्त्तव्य को देखते हुए सीमा मत लाँघ जाना !"

आचार्य कुछ रुके और बोले—"मैं कार्य से जा रहा हूँ। कालिदास आता ही होगा।"

आचार्य पादुका पहन कुटिया-अलिन्द के बाहर हो गए ! उन्होंने परख लिया था कि दोनों का प्रेम वास्तविक प्रेम ही है। यौवन का उन्माद-पूर्ण नाटक नहीं ! विषयी आकर्षण नहीं !! उनकी पादुका राज्य रथ्या पर खटकी और वे आश्रम से सीधे राज्य-प्रासाद की ओर बढ़ गए।

# १८

## आवश्यक चर्चा

मालवेन्द्र विक्रम हर्म्य के प्रमुख प्रमुख कोष्ठक में बैठे शासन के विशेष अंग-योगीराज वैताल से राजनीतिक चर्चाएँ कर रहे थे।

प्रतिहारी ने सूचना दी—आचार्य वररुचि जी पधारे है। मालवेन्द्र और योगीराज ने खड़े हो स्वागत किया और अपने समीप ही आसन पर बिठलाया।

"किस विषय पर चर्चा हो रही है?"—आचार्य ने हँसते हुए पूछा।

"राज्य कार्य के अतिरिक्त अब हमारे पास क्या विषय रह जाता है—आचार्यवर!"

"प्रियंगुमंजरी अभी चर्चा का विषय नहीं बनी?"—मुस्कराकर आचार्य ने चर्चा छेड़ी।

"आचार्य का अभिप्राय...?"

"सम्राट! प्रियं पूर्ण रूप से यौवन के आंगन में आ चुकी है? क्या यह आपकी दृष्टि में नहीं—?"

"है। परन्तु...।"

"परन्तु क्या राजन्! यौवन प्राप्त कन्या का भार पिता के उत्तर-दायित्व में विशाल राज्य से भी अधिक होता है!"

"आचार्यवर! लगता है वह यावज्जन्म कुमारी ही रहेगी। सम्भवतः मेरे पिता का प्रायश्चित्त मेरी पुत्री पर है!"

"प्रायश्चित्त...?"

"सरस्वती श्रमण की कथा आप से कहाँ छिपने पाई है, लगता है उसके अन्तःकरण का श्राप ही मेरी पुत्री पर है।" सम्राट विचलित हुए—

आचार्य! आपका श्राप और प्रियं की प्रतिज्ञा कितनी विचित्र है!"

"कोई मार्ग नहीं निकाल पाते?"

"कैसे आचार्य प्रवर! आप का गुरु कहाँ से लाऊँ?"

"शान्तं पापं, मालवेन्द्र! शान्ति से सोचेंगे तो सभी समस्याएँ प्रकाश-मय हो जाएगी। जब स्वयं-भू ने प्रियं को अद्वितीय रूप-गुण राशि दी है, तो वैसा ही जीवन साथी भी दिया होगा!"

"मुझे मार्ग-दर्शन कराइए आचार्यवर! मैं आप का अनुगत हूँ।"

—सम्राट विक्रम विचलित से हो बोले।

"स्वस्ति-स्वस्ति! आप प्रियं के प्रण को तो अटल मानते ही है?"

"निसन्देह!"

"और आप उसकी रुचि का भी पूर्ण ध्यान रखते हैं?"

"निःसन्देह। शास्त्र भी यही कहता है कि वर-कन्या के अनुकूल ही हो।"

"साधु-साधु! और वेद भी यही कहता है कि कन्या ही अपने योग्य वर को चुन ले। प्रियं ने भी...उचित ही तो किया है!"

"क्या कह रहे हैं...आचार्यवर!"

—विक्रम को महान् आश्चर्य हुआ।

"ध्रुव सत्य! उसका वर योग्य है। पशुपाल और मेरा गुरु भी!"

"आपका गुरु ! पशुपाल !! कौन है वह ?"

—सम्राट का मुख गम्भीर और स्वर शिथिल था।

"आपकी सभा का सदस्य, कल का पशुपाल, मेरा गुरु भी और आज का—कालिदास !"

"कौन तरुण कवि !" योगीराज ने मौन भंग कर बीच में ही प्रश्न किया।

"हाँ, योगीराज ! आपको अभिप्सित है ?" आचार्य ने पूछा।

"जब कुमारी को अभिप्सित है, तो सभी को होना भी चाहिए। हम उसकी चुनाव शक्ति पर प्रभावित हैं !"

—इतना कह कर योगीराज ने पुनः अपने चक्षु-स्वभावनुकूल बन्द कर लिए।

"प्रियंगुमंजरी ने कालिदास को चुना है ?"—मालवेन्द्र ने पूछा।

"हाँ उसे वह हृदय से चाहती है।"

"और कालिदास प्रियं को चाहते हैं ?"

"हाँ, मालवेन्द्र ! हृदय से।"

"परन्तु यह आपको कैसे ज्ञात हुआ ?"

—मालवेन्द्र कुछ मुस्कराए।

"दोनों ही मेरे शिष्य जो हैं !"

सम्राट विक्रम विचार में पड़ गए।

"क्या तरुण कवि कालिदास आपको प्रिय नहीं है ?"

—मालवेन्द्र को मौन देख वररुचिजी ने पूछा।

"प्रियंगुमंजरी को अभिप्सित है तो मुझे आपत्ति कैसे हो ? आप ही बताइए आचार्य, आपको तो प्रिय है न यह...।"

"हृदय से, राजन् ! आचार्य वराहमिहरजी की भविष्यवाणी सार्थक होकर रहेगी। वह विश्व में अपना एक विशेष स्थान बनाएगा। उसमें विचित्र-कवित्व शक्ति है। अभी वह छः ऋतुओं पर एक ग्रन्थ रच रहा

है। मुझे उसने बसन्त-वर्णन सुनाया था। विचित्र अलंकार-जमाव, विचित्र चित्रण! निश्चय जानिए सम्राट, उसे ऋतु वर्णन का यह ग्रन्थ ही एक दम ख्याति के सर्वोच्च पद पर आसीन करवा देगा!"

"आचार्यवर! हमें कालिदास हृदय से प्रिय है। हम उस पर बहुत पूर्व से आकर्षित हैं; इस सम्बन्ध में हमें उससे मिलाइए...!"

"अवश्य-अवश्य!"—आचार्य मुस्कराए।

"तरुण की प्रतिभा उसके भविष्य का प्रताप है! राजन, उसका नाम धरा पर सम्भवतः आपसे भी अधिक रहेगा...!"

—योगीराज बैताल ने अपने अधखुलेनेत्रों को मालवेन्द्र के मुख पर केन्द्रित कर कहा।

"हम कब अस्वीकार करते हैं देव! हमें तो पुत्री प्रियं की गुण-ग्राहकता पर ही आश्चर्य है!...फिर वह तरुण मुझे प्रिय है, आपको प्रिय है, आचार्य वररुचिजी को प्रिय है और चिरकाल पर्यन्त यह विश्व-प्रिय होगा, फिर हमें क्या चाहिए?"

इससे अधिक चर्चा न हो पाई। चूँकि आचार्य को शीघ्र ही आश्रम लौटना था—इसलिए आज्ञा लेकर चले आए।

# १९

## पिता-पुत्री

प्रियंगुमंजरी जब आचार्य के आश्रम से प्रासाद में लौटी, तो मालवेन्द्र के कोष्ठक में दो सेविकाएँ दीप-स्तम्भों को रँगोली से माँजती दिखाई पड़ीं, कोष्ठक रिक्त था। वह हिरणी सी चौकड़ी भरती अपने कक्ष में आई; परन्तु सहसा उसे स्तम्भित हो एक ओर रुक जाना पड़ा।

सम्राट विक्रम प्रियं के कोष्ठक में बैठे उसकी ही प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके मुख पर आज क्षण-प्रतिक्षण आश्विन में दौड़ती परछाई के समान विचित्र-विचित्र भाव बन, बिगड़ रहे थे।

प्रियंगुमंजरी ने यह देखा था; और वहीं नतमस्तक हो खड़ी रही।

"आ गई, पुत्री ? आओ, बैठो !"

मालवेन्द्र ने प्रियं को बैठने का संकेत किया।

प्रियंगुमंजरी गर्दन झुकाए निर्दिष्ट स्थान पर बैठ गई।

"प्रियंगुमंजरी अब कल से तुम आचार्य के आश्रम में न जाओगी, समझी !"

"कोई अपराध ?"—घबराई प्रियं ने धीरे से पूछा।

"विक्रम की पुत्री अपराध कर भी तो नहीं सकती !" मालवेन्द्र ने कहा—"फिर भी तुम्हारा वहाँ जाना अब उचित नहीं।"

"परन्तु मेरी शिक्षा अपूर्ण रह जाएगी। उपनिषद्...।"

"यह सब अब तुम प्रासाद में बैठ कर अपनी बुद्धि से भी कर सकती हो। हम जानते हैं तुम कितनी बुद्धिमान हो !"

—मालवेन्द्र के स्वर में कुछ कठोरता थी।

प्रियं अपने पिता के वाक्चातुर्य के समक्ष कुछ बोल नहीं पाई। वह नीचा सिर किए मौन बैठी रही।

कुछ समय तक कक्ष में नीरवता रही। नीरवता को भंग कर मालवेन्द्र ने प्रियंगुमंजरी से गंभीर शब्दों में कहा—

"बेटी ! आज हम तुमसे जो भी पूछें, ठीक-ठीक उत्तर देना !"

प्रियं ने भयभीत हरिणी के सदृश विक्रम के मुख की ओर देखा।

सम्राट कहने लगे—

"बेटी आज आचार्य वररुचि यहाँ आये थे...।" प्रियंगुमंजरी इन शब्दों को सुन कर भावी आशंकाओं से मन ही मन बहुत डर गई। उसकी हृदयगति तीव्र हो गई।

विक्रम बोलते ही रहे—"प्रियं, तुम सुशील हो, विदुषी हो, अपने कुल की मान-मर्यादा से परिचित हो। हो न ?"

प्रियंगुमञ्जरी मौन !

"सत्य कहना—तुम्हें तरुण कवि-कालिदास से प्रीति है ?"

प्रियंगुमञ्जरी का मुख सहसा लाजवन्ती की लता के समान इन शब्दों के स्पर्श से लजा गया।

"प्रियं ! तू बोलती नहीं ? आज के मेरे प्रत्येक प्रश्न तेरी जिन्दगी के ताने-बाने हैं। तुम्हारी थोड़ी सी भूल तुम्हें—तुम्हारे जीवन को कहाँ से कहाँ ले जाएगी ? सत्य कह दो, तुम्हें तरुण कवि-कालिदास से प्रीति है ?"

स्पष्ट प्रश्न से प्रियं मार्ग में खड़े तृण के समान थर्रा उठी। उसके रोम-रोम खड़े हो गए, उसका अंग-प्रत्यंग सहसा काँप उठा।

सम्राट विक्रम ने यह सब देखा। उन्होंने यह भी देखा—प्रियंगुमञ्जरी के चञ्चल नेत्रों के कोनों में अभी-अभी गिरने को उद्यत दो मोती चमक आए हैं। विक्रम कुछ शिथिल पड़े। बोले—

"विक्रम तुम्हारे सुख में ही सुख समझते हैं, पुत्री! कार्यधर्मानुकूल हो, तो श्रेयस्कर होता है।"

प्रियं के नेत्रों के कोने में चमक आए मोती अवनी पर जा ढरके। वह सिसक उठी, उसने अपने अश्रुभरे मुख को पिता के अंक में, आने वाले प्रश्नों के बचाव में छिपा लिया।

मालवेन्द्र का हृदय पिता का भी हृदय था। उनके विशाल नयन भी सजल हो गए। उनका वरद हस्त प्रियं के कुन्तल केशों पर था। वे मृदुल शब्दों में बोले—

"पुत्रि! वही होगा, जो तुम चाहोगी। स्वयंभू तुम्हारे जीवन को सुखमय बनाए।"

पर्याप्त समय तक पिता-पुत्री अनबोले ही शान्त कक्ष में बैठे रहे।

# २०

## शुभ-परिणाम

उसी दिन से प्रियंगुमंजरी आचार्य वररुचि के आश्रम न आ सकी। तरुण आता और उदास मुख लिए लौट जाता। उसका साहस नहीं होता था कि वह आचार्य से प्रियं के नहीं आने का कारण पूछे।

अब अमराई, उपवन और वह लता-मण्डप सभी सूने लगते थे और थे आचार्य उदास।

आश्रम का इस उदासी का यह छठा दिन था। इस बीच आचार्य भी विक्रम के प्रासाद तक नहीं जा सके।

सम्राट विक्रम का 'चर' आज कई बार आचार्य वररुचि के निकट सम्राट का सन्देश लेकर आया और लौट गया। यहाँ तक कि स्वतः सम्राट विक्रम भी राज्य-कार्य से अवकाश निकाल आचार्य वररुचि से मिलने आए; परन्तु इस समय भी आचार्य आश्रम में नहीं थे।

आचार्य जब लौटे, तो यहाँ वृत्त अन्तेवासियों से मिले—वह प्रसन्न हुए। सहसा तरुण-कवि कालिदास ने प्रवेश किया। उसका मुख उदास था।

अभिवादन के पश्चात आज कालिदास ने पूछ ही लिया—

"देव ? क्या राजकुमारी प्रियंगुमंजरी की शिक्षा पूर्ण हो चुकी ?"

"नहीं ! परन्तु अब प्रियं आश्रम न आवेगी।"

"क्यों देव ?"—एकाएक चित्त की परवशतावश कवि के मुख से निकल पड़ा। "यह सब बाद में ज्ञात कर सकोगे। अभी तुम्हें मालवेन्द्र के प्रासाद तक चलना है। आश्रम का कार्य अन्तेवासियों को समझा कर अभी आया।"

और आचार्य कुटिया में चले गए। कुछ ही समय में आचार्य कमण्डल उठाए कुटिया से बाहर आए।

आचार्य और तरुण कवि कालिदास रथ्या पर अग्रसर हुए। पूरे मार्ग दोनों मौन ही रहे।

× × ×

विक्रम सदैव के से ही कार्य-व्यस्त थे। प्रतिहारी ने सूचना दी कि "आचार्य वररुचिजी तथा साथ में तरुण-कवि प्रवेश कर रहे हैं।'

विक्रम प्रसन्न हो खड़े हुए और कोष्ठक में प्रवेश करते ही हँसकर स्वागत किया तथा समीप ही आसन पर बैठाया।

तरुण आश्चर्य-विस्मित भाव से हर्म्य को देख रहा था। सच तो है—उसने अपने जीवन में इतना विशाल, इतना सुव्यवस्थित हर्म्य नहीं देखा था।

विक्रम ने यह निरख लिया था। पूछा—

"हर्म्य सुखकर तो है न ?"

तरुण ने मात्र सहज स्मित किया। विक्रम आचार्य से बोले—

"आचार्य के दर्शन विगत छः दिनों से दुर्लभ रहे ? कितनी बार दूत जा चुके हैं। मैं स्वतः भी अवसर निकाल आश्रम तक गया था; परन्तु आप नहीं थे ! और अभी-अभी पुनः आने को ही था...। प्रियं को देखिए न, उसने क्या दशा बना ली है अपनी।"

"परन्तु राजन् ने उसके सम्बन्ध में कुछ न सोचा होगा ?"

"नहीं, आचार्य नहीं! मैं व्याकुल ही तो होकर आपके आश्रम...।"

आचार्य मुस्कराए—

"निश्चय ही राजन! आप मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। इतिहास के पृष्ठों में आपका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा!"—आचार्य प्रसन्न थे।

"यह सब तभी सार्थक हो सकता है, जब हमारे पास आप जैसे महान पथ-प्रदर्शक हों!"

विक्रम ने मुस्कराते हुए कहा। सहसा उनकी दृष्टि कालिदास पर जा लगी।

"आचार्यवर! हम उसी सम्बन्ध में कवि कालिदास से कुछ प्रश्न करना चाहेंगे।" विक्रम ने आचार्य से पूछा।

"अवश्य राजन्!"

"कवि! हम आपसे जो भी प्रश्न करेंगे उसका यथार्थ उत्तर दोगे—?"

"अवश्य! अपनी मति के अनुकूल देने का प्रयास करूँगा!"

विक्रम मुस्कराए। बोले—

"हमारे प्रश्न वैदिक या दार्शनिक नहीं होंगे, वह तो अपने तक सम्बन्धित है।"

"प्रश्न जान सकूँगा, मालव-महिम!"

—कवि ने विनम्र निवेदन किया।

"तुम्हें प्रिय से प्रीति है?"

—मालवेन्द्र ने प्रश्न के साथ ही दृष्टि कालिदास के प्रखर-मुख-मण्डल पर केन्द्रित की।

कालिदास के नेत्र मालवेन्द्र के नेत्रों से टिके रह गए। उसके मस्तिष्क में क्षण भर में ही अनेकों विचार पानी में उठनेवाले बुलबुले के समान उठते बैठते रहे। वह कुछ न बोल सका।

सम्राट विक्रम ने तरुण-कवि के मुखपर पड़ रहे भावों को पढ़ते हुए कहा—

"स्पष्ट कह देने में आपत्ति नहीं होना चाहिए।"

एक क्षण तरुण ने आचार्य के सौम्य मुख की ओर देखा—ऐसा लगा कि आचार्य की इंगित-मय मुस्कराहट स्पष्ट कह रही है—सम्राट के प्रश्न का उत्तर दो।

"निःसन्देह मुझे प्रियं से प्रीति है।"—कवि ने स्पष्ट कह दिया।

आचार्य मुस्कराए।

"प्रियंगुमंजरी को तुमसे ?"—सम्राट ने हृदय में बैठी बात पूछी।

"निःसन्देह...।"

आचार्य तरुण के स्पष्ट शब्दों से प्रसन्न हुए। उनके मुँह से सहसा "साधु-साधु !"—निकल पड़ा।

"क्या तुम प्रियंगुमञ्जरी को यावज्जीवन के लिए अंगीकार करोगे ?"—विक्रम ने अन्तिम प्रश्न किया।

"जन्मजन्मान्तर के लिए......!"—कालिदास ने गंभीरता से दृढ़ शब्दों में कहा।

विक्रम प्रसन्न हो उठे। उन्होंने प्रमुदित हो कहा—

"आज से आप यहीं प्रासाद में रहेंगे, न कि विद्यापीठ के आश्रम में। अब आप हमारे जामात्र हुए ?"

प्रेम से गद्गद् हुए मालवेन्द्र ने कवि के सुडौल भुज को उठा अपने मस्तक से लगा लिया।

## २१

## सेविका मेनका

और तभी से कवि कालिदास राज्य-प्रासाद में रहने लगे। प्रियंगु-मंजरी और कवि कालिदास के मन-बहलाव के हेतु मालवेन्द्र ने यहाँ अनेक प्रकार के सुविधापूर्ण साधन उपलब्ध कर दिए थे। कभी-कभी दोनों सायंकाल रथ पर बैठ आचार्य वररुचिजी के आश्रम को भ्रमणार्थ चले जाते थे। आचार्य दोनों को अनेक प्रकार के उपदेश देकर सामाजिक कर्तव्यों से अवगत कराते। अब दोनों का समय अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत हो रहा था।

प्रासाद में सम्राट ने कालिदास और कुमारी प्रियं की सेवा में बहुत सी दासियाँ नियुक्त कर दी थीं।

जिनमें सम्राट की स्नेह-भाजन दासी मेनका भी एक थी। कवि का सेवा-भार मेनका के उत्तरदायित्व में था!

मेनका जब प्रथम ही प्रथम कवि की सेवा में नियुक्त हुई थी। उस दिन भोर में कवि कालिदास जागे तो स्वर्ण-पात्र में निर्मल जल एवं कुछ फल

लिए हुए एक सुन्दरी को उन्होंने अपने समक्ष देखा। क्षणभर के लिए कवि उसके सुन्दर चपल नेत्रों में खो गए।

मेनका मुस्कराई। बोली—"प्रातः बन्दे ?"

"प्रातः बन्दे।"—कालिदास ने आलस्य त्यागते हुए प्रत्युत्तर दिया, एवं पुनः सुन्दरी दासी के सलोने मुख की ओर पूर्णदृष्टि से देखा और पूछा—

"सुभगे! तुम कौन हो?"

"आपकी सेवा में नियुक्त राज्यदासी!"

"सुन्दरी का नाम?"

"मेनका!"

"अति शुभ! तुम मेरी सेवा में नियुक्त की गई हो?"

"हाँ, श्रीमान्।"

"बैठो, खड़ी क्यों हो! मेनका, तुम बहुत सुन्दर हो।...कहाँ की निवासिनी हो तुम?"

मेनका लजा गई—

"श्रीमान्! मैं मगध-वासिनी हूँ!"

"अत्यन्त शुभ! बैठो न?"

"क्षमा करेंगे विद्वन्! कार्य बहुत है। आप मज्जन कर लें। कुमारी का आदेश है कि आपको मज्जन करा शीघ्र उनके कोष्ठक में भेजूँ।"

"मेनका तुम कुमारी हो"—कवि उसके सौन्दर्य से मुग्ध प्रश्न करते ही रहे।

"हाँ, विद्वन्! दासियाँ कुमारी ही रहती हैं!"

"तुम दासी-कार्य के योग्य नहीं हो। तुम्हें तो कहीं की राजरानी होना था।"

कवि ने मेनका के तीखे नेत्रों में देखते हुए कहा।

एक क्षण मेनका के चञ्चल नेत्र कवि के प्रखर नेत्रों की सीध में तने और सहसा भारी मंजूषा के ढक्कन की भाँति नीचे गिर पड़े।

वह बोली—"महोदय ! मज्जन कीजिए न ?"

"मेनका ! तुम बैठो। तुमसे कार्य कराने को मेरा मन नहीं चाहता। मैं स्वतः अभ्यासी हूँ, कर लूँगा !"

कवि ने मेनका के कोमल कर को पकड़, उसे पर्यङ्क पर बैठा दिया।

मेनका किंकर्त्तव्य-विमूढ़ थी। तरुण मुस्कराता हुआ पात्र ले, मज्जन-कक्ष में चला गया।

लौटते समय कौशेय वस्त्र लिए द्वार पर पुनः मेनका थी। कालिदास ने देखा, वे स्मित हास्य हँसे—"मेनका ! मैं तुमसे यह सेवा स्वीकार नहीं करूँगा !"

"तो फिर यह दासी किस सेवा के योग्य है ?"

"तुम मुझसे चर्चा भर किया करो, यही तुम्हारे लिए उपयुक्त है।"—कवि ने उसके हाथ का वस्त्र ले, हँसते हुए पूछा—"तुम कौन वर्ण हो ?"

"श्रीमान्, मैं क्षत्राणी हूँ !"

"क्षत्राणी ? तो यह दासी-कार्य क्यों स्वीकार किया ?"

मेनका गम्भीर हुई—

"श्रीमान् ! मेरी माता मुझे जन्म देकर ही चल बसी और पिता भी। मैं बहुत छोटी थी तभी मेरे पिता सम्राट् अग्निमित्र के युद्ध में वीर-गति को प्राप्त हुए। वे अग्निमित्र के विश्वस्त सामन्त थे। मैं दास विक्रेता के हाथ लगी, उसीके घर पली हूँ। सम्राट् ने मुझे मगध-कलिंग यात्रा पर क्रय कर लिया था !"

—मेनका अपनी जीवन की इस प्रलम्ब-गाथा का संक्षेप में वर्णन कह सुनाया।

"मेनका ? यद्यपि तुम्हारा जीवन कठिन परिस्थितियों में होकर गुजरा है। तथापि तुम दासी-कार्य के योग्य नहीं।"

"मेरा भाग्य। यही शब्द सम्राट ने मुझे क्रय करते समय कहा था।"

"सम्राट का विशाल हृदय है—मेनका!"

कवि ने कहा—"अच्छा तुम जा सकती हो। प्रियं से कहना मैं आ रहा हूँ।"

"अब क्या आ रहे हैं, जब मैं स्वयं ही आ गई! कितना विलम्ब किया ?"

—प्रियं ने कक्ष में प्रवेश करते हुए रूखेपन से कहा।

मेनका नतमस्तक हो कोष्ठक के बाहर चली गई। कालिदास करुण दृष्टि से मेनका की ओर देखते ही रहे।"

"आज से वह आपकी सेवा में नियुक्त है—कैसी है ? अभीप्सि है ?

"प्रियं! मुझे वह बहुत प्रिय है। विधि ने उसे अद्वितीय रूप देकर भी भाग्य नहीं दिया। वह तन्वी दासी कार्य के योग्य नहीं।"

"सत्य है! पिताजी भी ऐसा ही कहते हैं; परन्तु वह अनवरत स्वेच्छा से कार्य करती ही रहती है, तभी तो मैंने उसे आपकी सेवा में नियुक्त किया है!"

"कितनी सुशील और रूपवान है, वह...!"

"और मैं ?"— प्रियंगु मंजरी ने कवि के वक्ष पर टिके ही, कवि के मुख को अपनी ओर खींच कर पूछा।

"तुम्हारे सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं कहता!"

"मत कहो!"—कालिदास से मुक्त हो प्रियं ने रूठकर कहा।

"क्यों फिर रूठी ?"—कवि मुस्कराया।

"अब हम व्यर्थ नहीं बोलते। चलो, आज प्रदोष है, स्वयं-भू के दर्शनार्थ चलना है। आज स्वयं-भू के प्रकोष्ठ में प्रदोष-नृत्य है!"

नृत्य तो तुम भी जानती हो न प्रियं ?

"अवश्य !"

"हमें तो कभी प्रत्यक्ष में दिखाया ही नहीं ?"

"और न दिखाऊँगी भी।"

"ऐसा क्यों ?"

"न आप मुझ पर कविता करेंगे और न मैं आपके समक्ष नृत्य।"

"तुम तो पगली हो ! वह ग्रन्थ किसका है ?"

—कालिदास ने प्रियंगुमंजरी की बाँह पकड़, उसे अपनी ओर खींचा।

"हटो।" प्रियं ने कहा—"विलम्ब हो रहा है।"

"नृत्य तो करोगी न मेरे समक्ष ?"

प्रियं ने पलकों में ही "हाँ" कहा। और प्रकट में बोली—"प्रथम स्वयं-भू के दर्शन बाद में सब कुछ।"—और मन्द-मन्द मुस्करा बंकिम कटाक्ष कर प्रियं कवि कालिदास से विलग हो गई।

वे दोनों शीघ्र ही तैयार हो कोष्ठक के बाहर हो गए।

## २२

# प्रीति-गान

राज्य-प्रासाद से ही जुड़ा एक मनोरम उद्यान था। जो कि कोस के चतुर्थांश की परिधि में विस्तारित था। दूर-दूर देश के रम्य वृक्ष, लतादि इस उपवन की शोभा की अभिवृद्धि करते थे। यहाँ प्रियंगुमंजरी अपनी दासियों के साथ विहार किया करती थी। प्रियं को पशु-पक्षियों से अधिक स्नेह था। तदर्थ सम्राट ने दूर-दूर से पशु-पक्षी मँगवाकर राज्योद्यान में छोड़ रखे थे।

हरिन, खरगोश, सुन्दर से पहाड़ी कछुए, शुक, मयूर, अनेकों शुभ्र-कपोत, कई प्रकार की रंग-बिरंगी चिड़ियाँ अपने मधुर-स्वर से राज्योद्यान में रस-वृष्टि किया करती थी।

इसी उद्यान में एक छोटा सा सरोवर था, जिसमें छोटी-छोटी कुमुदिनियाँ खिला करती थीं।

देश-विदेशी पुष्पों की सुवास लेते हुए प्रति दिन मालवेन्द्र इसी उद्यान में होकर स्वयंभू महाकाल के दर्शनार्थ जाया करते थे। यही सुगम-मार्ग था—महाकाल प्रकोष्ठ जाने का।

प्रियंगुमंजरी एवं तरुण कवि कालिदास जब त्रिशूली-महाकाल के दर्शन से लौटे तो उनका रथ प्रतिदिवसानुसार राज्योद्यान के द्वार पर आकर रुका।

तरुण-कवि रथ से उतरे और सहारा देकर कुमारी प्रियं को भी उतारा।

दोनों कुछ समय तक राज्योद्यान में महाकाल के प्रकोष्ठ में हुए आज के प्रदोष-नृत्य की प्रशंसा करते हुए टहलते रहे। फिर प्रमुख प्रासाद में से होकर अपने कक्ष में आए।

कवि ने चर्चा पूर्ववत् रखते हुए कहा—

"प्रियं! मुझे तो नृत्य के समय प्रिय लगी तो वीणा-वादन, वीणा की मधुर स्वर-लहरियाँ!...वीणा-वादन तो तुम भी जानती हो न प्रियं?"

"हाँ परन्तु अब अभ्यास बहुत कम...। क्यों?"

"वीणा-वादन मुझे भी सीखना है।"

"वीणा-वादन में तो मेनका वरद्-हस्त है...। उससे कहिए... वह...।"

सहसा द्वार पर मेनका आती दिखाई दी, तो प्रियं बोली—"लो, मेनका आ भी गई।" प्रियं ने मेनका की ओर मुख कर कहा—"मेनका, तुम वीणा वादन जानती हो न?"

"यह राजकुमारी से नहीं छिपा है!"—मेनका ने बड़ी चतुराई से उत्तर दिया।

"तो फिर हमें कब समय दोगी?"—उत्सुक कालिदास ने मेनका से पूछ ही लिया।

"विद्वन् की आज्ञा में सदैव तत्पर हूँ!"

"तो फिर अभी ही वीणा ले आओ न? हमें अभी ही तुम्हारे संगीत का रस लेना है।"

"श्रीमान की आज्ञा...!"—और मेनका सादर नतमस्तक हो कक्ष के बाहर हो गई। स्नेहिल दृष्टि से कवि उसे कक्ष के बाहर होने तक देखता रहा। कवि का मेनका की ओर बार-बार इस प्रकार देखना प्रियंगु-मंजरी को नहीं रुचा। वह उदास हो गई।

प्रियंगुमञ्जरी की खिन्न मुद्रा देख कवि ने प्रियं से पूछा—"क्या सोच रही हो प्रियं?"

"कुछ भी तो नहीं!"—सत्वर ही प्रियंगुमञ्जरी ने अपने पर नियंत्रण किया।

कुछ समय पश्चात् मेनका ने अपने गौर-सुडौल भुज में वीणा कसे कक्ष में मुस्कराते हुए प्रवेश किया। उसके पीछे मृदंग लिए मधुमंजरी भी आई।

"अति उत्तम मेनका?" हर्षित हो कवि ने कहा—"निश्चय ही तुम संगीत-निपुण हो। मृदङ्ग-वादन हेतु मधु को भी साथ ले आई।" और कवि ने मुस्कराकर प्रियं से कहा—"ऐसे में प्रियं! तुम्हारा नृत्य हो तो सोने में सुगन्धि आ जावे।"

प्रियं ने नकारात्मक गर्दन हिलाई और कहा—"मैं अस्वस्थ हूँ, यह न होगा!"

कवि को प्रियं के यह भाव न रुचे। उसने कहा—

"प्रियं, तुम अस्वस्थ तो नहीं; परन्तु उदास अवश्य हो! कहो तो यह कार्यक्रम स्थगित कर दूँ?

"स्थगित न होगा। यह सब आयोजन आपके हेतु ही तो है।" प्रियं ने एक साँस भरी और कवि के नेत्रों में झाँककर कहा—"किसी भी प्रकार आप असन्तुष्ट न रहें?"

प्रियंगुमञ्जरी के कुन्तल-केशों में स्नेह से उँगलियाँ नचाते हुए कालिदास ने कहा—"यदि तुम असन्तुष्ट रही तो क्या मैं सन्तुष्ट रह

पाऊँगा—!" कवि ने मेनका की ओर देखा और कहा—"मेनका! कुमारी अस्वस्थ है, कार्यक्रम कल तक के लिये स्थगित करो।"

"मेनका, नहीं!" प्रियं तत्काल बोली—"कार्यक्रम स्थगित न होगा। मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। तुम वीणा और मधुमंजरी मृदंग-वादन करे। आज मैं......गाऊँगी!!"

कवि ने मुस्कराकर सन्तुष्ट नेत्रों से प्रियं की ओर देखा।

मेनका वीणा के स्वरों को मिलाने लगी। मधुमञ्जरी ने मृदंग को चढ़ा, त्रिताल के कुछ बोल निकाले।

प्रियंगुमञ्जरी का इंगितादेश पाते ही मेनका की वाणी से प्रस्फुटित मधुर स्वर से सारा कोष्ठक गूँज उठा।

"धा...धा...धिकूँ...धिकूँ...के शब्दों को मधु ने अपनी मृदंग पर निकाल मेनका की वीणा के स्वरों में घोल दिया।

संगीत का सुन्दर 'सम' बन गया। क्षण भर के लिये एक दूसरे को अपनी सुधि न रही। वाद्यों पर दोनों कुशल वादिकाओं की चंचल उँगलियाँ नृत्य कर रही थीं। मृदंग के बोल और वीणा की मधुर झंकार एक दूसरे में घुल-मिल गए थे।

स्वर-साम्य देख प्रियंगुमंजरी ने मेनका द्वारा वादित स्वरों पर अलाप लगाया। कोमल कण्ठ-रव हुआ। कोष्ठक में मधुर-ध्वनि गूँजी। कालिदास प्रेमविभोर हो झूम उठे। प्रियंगुमंजरी कुशल गायिका थी। उसका कर्ण-प्रिय मधुर स्वर कानों में स्पर्श कर अद्भुत मधुर-कम्पन कर रहा था।

प्रियंगुमंजरी पर्याप्त समय तक गाती रही। संगीत का सुखद-सामंजस्य बन गया था। परस्पर सभी आत्म-विभोर थे। कुछ क्षण पश्चात् वीणा पर मेनका की और मृदंग पर मधुमंजरी की उँगलियाँ शिथिल हुईं। मेनका के ललाट पर स्वेद विन्दु उभर आए। प्रियंगुमंजरी ने गाना बन्द किया।

"आश्चर्य! प्रियं, तुम इतनी कुशल गायिका भी हो, मैं नहीं जानता था !!"—कालिदास ने प्रमुदित होते हुए कहा।

प्रियंगुमंजरी के रक्तिम-अधर पर मुस्कराहट की गहरी आभा खेलने लगी। द्रुत गति से श्वास-संचार होने के कारण उसका उतंग-वक्ष क्षण-प्रति-क्षण उठ गिर रहा था।

कवि ने मेनका की भी प्रशंसा करनी चाही। उन्होंने मेनका की ओर स्नेहिल दृष्टि से देखा; वह अपनी उँगलियों को आँचल में लिए, दूसरे हाथ से दबा रही थी। उसकी भी तीखी दृष्टि कवि की दिशा में ही स्थिर थी। कालिदास भी उसकी भोली चितवन में उलझ गये।

प्रियंगुमंजरी को कालिदास का मेनका की ओर इस प्रकार देखना पुनः खला। वह मेनका से बोली—"मेनका! अब तुम महानस में जाओ और भोजन की तैयारी करो। हम भी आते ही हैं।

आज्ञा पाते ही मेनका और प्रियंगुमंजरी चली गई। कोष्ठक रिक्त होते ही कवि ने प्रियंगुमंजरी को वक्ष पर खींच लिया और उसके नेत्रों में अपने नेत्र डालते हुए कहा—

"प्रियं! तुम इतना सुन्दर गाती हो यह तो हमें ज्ञात ही न था! मन होता है—प्रतिदिन मेनका की वीणा की सरस स्वर-लहरी के साथ तुम्हारे मधुर-गीतों का रस लिया करूँ!"

प्रियं को अपने गीतों के साथ मेनका की वीणा का सम्बन्ध उचित न जान पड़ा। कवि के पाश से मुक्त होते हुए उसने बात पलटी—

"चलिए! पिताजी महानस में प्रतीक्षा कर रहे होंगे!"

कवि कालिदास और प्रियंगुमंजरी भोजन-कक्ष की ओर अग्रसर हो गए।

# २३

## मेनका और कवि

कवि कालिदास के जीवन में मेनका एक विशेष स्थान बनाती चली आ रही थी। कभी-कभी निर्जन में बैठे कवि उसी के सम्बन्ध में बहुत कुछ सोचा करते थे। उसके अगाध सौन्दर्य, कार्य-चातुर्य तथा अद्वितीय संगीत-ज्ञान से वे अत्यन्त प्रभावित थे। मेनका कवि से सेवाओं के बदले में स्नेहिल-शब्द पा अत्यन्त प्रसन्न रहती थी। उसे स्मरण था कि एक दिनवह अपनी पूर्व कटु-स्मृतियाँ स्मरण हो आने पर विह्वल हो रो उठी थी और कवि ने उसे सान्त्वना देते हुए स्नेहिल शब्दों में कहा था—"मेनका! पूर्व नहीं, उस आगामी पर विचार करो, जिसमें हमें बहुत कुछ करना है। बीता समय आलोचना तथा वर्तमान की तुलना के हेतु ही है!" और तभी से कवि उसकी श्रद्धेय प्रतिमा बन गए थे, "वह कवि की सेवा और भी लगन से करने लगी। कभी-कभी कवि और मेनका पर्याप्त समय तक खुलकर चर्चा किया करते। कुछ दिनों तक तो प्रियंगुमंजरी को वह नहीं अखरा; परन्तु अब उसे इस मुक्त-चर्चा में कुछ रहस्य जान पड़ने लगा और वह मन ही मन दासी मेनका से जलने लगी।

और एक दिन जब कवि ने मेनका से वीणा-वादन सीखने की इच्छा व्यक्त की, तो उसकी आन्तरिक-शंका पूर्ण-रूपेण दृढ़ हो गई। प्रगट में कुछ भी नहीं कहा। अक्सर अब वह मौन रहती थी और सदैव उदास। प्रियंगुमंजरी को ऐसा आभास होता था कि मेनका कवि के हृदय से उसका स्थान छीन रही है। उसने मन में अनेक बार ऐसा सोचा कि, मेनका को कवि की सेवा से स्थानान्तरित कर अन्यत्र कहीं नियुक्त कर दे; परन्तु दूसरे ही क्षण वह सोचती—इसका प्रभाव कवि के हृदय पर उसके प्रतिकूल रहा...तो...? और वह अपने हृदय के भावों को हृदय में ही दबाए रही; किन्तु हृदय का यह कटु-उत्पीड़न उसके मुख पर सदैव उदासी के रूप में छाया रहता।

अब मेनका कवि को वीणा-वादन सीखाने लगी थी। पर्याप्त समय तक दोनों राज्योद्यान में बैठे वीणा पर संगीत-साधना किया करते। कवि ने वीणा-अभ्यास के लिए कुमारी प्रियंगुमंजरी से भी आग्रह किया; परन्तु प्रियंगुमंजरी ने अनिच्छा व्यक्त कर दी। उसके हृदय में मेनका के प्रति द्वेषाग्नि अति प्रबल रूप से जाग्रत हो चुकी थी, और वह उसी में अन्दर ही अन्दर घुली चली जा रही थी; परन्तु इसके विपरीत मेनका निर्विकार रूप से विशुद्ध सेवा करती रहती थी।

कवि उसे अपनी भगिनी ही मानते थे। और यह रहस्य प्रियं से अज्ञात था।

× × × ×

प्रति दिवसानुसार आज भी कवि कालिदास राज्योद्यान के सुवासित वातावरण में मेनका के पास बैठे स्वरों का अध्ययन कर रहे थे। उनके अंक में वीणा-यंत्र शोभित हो रहा था और उँगलियाँ ईप्सित स्वरों को वीणा के तारों में टटोल रही थीं। मेनका अपने हाथों पर ताल गिनती हुई कवि को राग-रागिनियों के वास्तविक स्वरों का अभ्यास करा रही थी। समीप ही प्रियंगुमंजरी भी मौन बैठी यह सब देख रही थी।

यह संगीत-अभ्यास यहाँ पर्याप्त समय तक चलता रहा। सहसा वहाँ मालवेन्द्र विक्रम आए। कवि की संगीत-साधना भंग हुई। मालवेन्द्र ने कवि से कहा—"कविवर! हमें आपसे कुछ आवश्यक बातें कहनी हैं!"

"मैं तत्पर हूँ...!"—कवि ने वीणा को समीप रख, सम्मान में खड़े होते हुए कहा।

"कुछ समय के लिए हम आवश्यक राजनैतिक कार्य-वश आचार्य वराहमिहर जी के साथ कलिंग-यात्रा पर जा रहे हैं। हर्म्य का तथा प्रियंगुमंजरी की रक्षा का कार्यभार अब आपके उत्तरदायित्व में रहेगा!"

"जो आज्ञा, सम्राटवर!" मालवेन्द्र के मुख की ओर देखते हुए कवि ने पूछा—"कोई विशेष कार्य होगा?"

"हाँ!" मालवेन्द्र कहने लगे—"आंध्र की दशा इस समय डाँवाडोल है, वहाँ गृहयुद्ध चल रहे हैं। ऐसे समय में सम्भवतः उज्जयिनी का हित हो जाय—यही सोचकर हमारी यह यात्रा कलिंग तक है। वहीं महत्वपूर्ण आंध्र सम्बन्धी जानकारियाँ भी प्राप्त होंगी!"

"आप यात्रा पर कब प्रस्थान कर रहे हैं, पिताजी?"

—प्रियंगुमंजरी ने पूछा।

"कल अरुणोदय में ही शुभ मुहूर्त है! तुम चलोगी?...नहीं चल सकोगी, तुम्हें कवि की जो चिन्ता है!" और मालवेन्द्र मुस्कराए—"आचार्य वररुचि जी कह रहे थे, आगे शुभ मुहूर्त बन रहे हैं। इस यात्रा के पश्चात् सम्भवतः तुम्हारे सम्बन्ध में ही विचार किया जाएगा।"

और स्वतः अपने शब्दों पर मालवेन्द्र ने दीर्घ अट्टहास किया। कवि भी कुछ मुस्कराए।

प्रियंगुमंजरी ने क्रमशः दोनों की ओर देखा और वह लजा गई। उसके रक्तिम कपोल इस कारण और भी सुर्ख हो गए। अपने अंगों को वह कछुए की भाँति ऐंठने लगी और न जाने क्यों उसके मृगी-से सुन्दर नेत्रों में दो अश्रु-मुक्ता चमक आए थे।

## २४

# मालवेन्द्र का कलिंग-गमन

दूसरे दिन प्रातः अरुणोदय की बेला में शुभ मुहूर्त देख मालवेन्द्र विक्रम अपनी रहस्यमय राजनैतिक यात्रा पर आचार्य वराहमिहरजी तथा अन्य विद्वानों के साथ प्रस्थान कर गए।

राज्य-संचालन-कार्यभार योगिराज बैताल भट्ट तथा आचार्य वररुचि के उत्तरदायित्व में था। हर्म्य-संरक्षण एवं प्रियंगुमंजरी की रक्षा का भार कवि कालिदास के ऊपर था।

मालवेन्द्र को नगर-सीमा तक विदाई दे कवि-कालिदास और प्रियंगु-मञ्जरी प्रासाद में आए। प्रियंगुमञ्जरी आज अधिक उदास थी। न मार्ग भर वह कवि से कुछ बोली न प्रासाद में ही वह कुछ बोलने का प्रयत्न कर रही थी। मौन बैठी वह न जाने किन विचारों में खोई हुई थी। कवि किसी विषय पर चर्चा करने का प्रयत्न करते भी, तो वह टाल जाती। प्रियंगुमञ्जरी के ये भाव कवि कालिदास से नहीं छिपे थे, वह कई दिनों से उसे इसी रूप में देखते आ रहे थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने प्रियंगुमञ्जरी से अनेक बार पूछा भी कि आखिर वह कौन कारण है,

जिसके कारण वह प्रायः अपने मुख पर उदासीनता बनाए रहती है।...
"कुछ भी तो नहीं !...कह प्रियंगुमंजरी कवि को सदैव टाल देती; परन्तु आज प्रियं के मुख पर अत्यधिक उदासीनता देख, अपने उत्तरदायित्व को दृष्टिगत रखते हुए कवि ने प्रियंगुमञ्जरी से पूछा—

"प्रियं ! आज तुम पुनः उदास हो, क्या कारण है ?"

"नहीं...तो ?"

—प्रियंगुमञ्जरी ने कृत्रिम मुस्कराहट मुख पर बना कवि को टालना चाहा; परन्तु कवि तो आज प्रियं से उसकी उदासीनता का कारण ज्ञात करने का निश्चय ही कर चुके थे। बोले—

"प्रियं ! आज तुम मुझे ऐसे भ्रमित नहीं कर सकती।...सच कहो, तुम्हें क्या पीड़ा है ? गत कुछ दिनों से तुम्हारे मुख पर छाई इस अटल उदासीनता में अवश्य ही कुछ रहस्य है—मेनका भी यही कह रही थी।"

प्रियंगुमंजरी मौन रही। तथापि उसके हृदय में कोई विचार-प्रश्न बार-बार उठ, उसके मस्तिष्क में आँधी उठाने को उद्यत थे। कभी-कभी उसके मन में ऐसा आता था कि वह कहीं नीरव में बैठ खूब रोए।

कवि कहते ही रहे—

"मैं देख रहा हूँ; तुममें अब वह आश्रम-सी चंचलता नहीं, न वह उमंग ही तुममें दृष्टि-गोचर होती है।...आखिर क्यों ? न तो तुम संगीत में ही रस लेती हो न अन्य स्नेहयुक्त चर्चाओं में ! फिर तुम्हें क्या करूँ ? कहो प्रिय, सत्य कहो, आखिर तुम्हारे हृदय में क्या है ?"

—कहते-कहते कवि का कंठ भर आया। कवि विचलित हो उठे थे।

प्रियंगुमंजरी के तीखे-मृगी-शावक-से नेत्रों की कोर में दो बड़े-बड़े मोती चमक आए। उसके मस्तिष्क में मेनका और कवि से सम्बन्धित उसके व्यवहार आए।...उसका वीणा-वादन...और उस पर प्रभावित

कवि की भावुक आकृति...। और प्रियं बोली—"कुछ भी नहीं...मैं आपको सुखी ही तो देखना चाहती हूँ..."

और वह रो उठी। गिरि-स्रोत की भाँति उसके नेत्र झरने लगे। उसने अपने समूचे तन्व-गात को कवि के चौड़े वक्ष में समा दिया था। यही एक उपाय था कवि के आगामी प्रश्नों के उत्तर से बचने का।

कवि किंकर्तव्य-विमूढ़ थे। आज कवि ने प्रियंगुमञ्जरी से उसकी उदासीनता के सम्बन्ध में बहुत कुछ आवश्यक प्रश्न करने का निश्चय किया था, परन्तु प्रियं की दशा पर वह स्वयं विह्वल हो उठे और आगे कुछ न पूछ सके। अपने वक्ष पर टिके प्रियं के तन्व-गात को बाहुओं में उन्हें सम्हालना ही पड़ा।

और पर्याप्त समय तक प्रियंगुमंजरी के हृदय की धड़कनों को कवि का चौड़ा वक्ष सुनता रहा, परन्तु उस धड़कन में क्या चोट थी? क्या रहस्य था? कवि अनभिज्ञ ही रहे।

# २५

## कवि का अन्तर्द्वन्द

कवि की संगीत-साधना नियमित रूप से चल रही थी। अल्पकाल में ही कवि संगीत में भी पारंगत हो गए। अनेक राग-रागिनियाँ अब वे स्वयं वीणा-पर निकाल लेते थे। संगीत-साधना के लिए राज्योद्यान तथा प्रासाद सुखकर नहीं थे, इसीसे अब कवि आचार्य वररुचिजी के आग्रह से उन्हीं के आश्रम पर उपवन की शान्त-स्थली अमराई के नीरव वातावरण में संगीत-अभ्यास हेतु मेनका के साथ जाने लगे।

प्रियंगुमंजरी के स्वभाव में किसी प्रकार का अन्तर नहीं था, वह दिन-प्रतिदिन रुचिहीन होती चली जा रही थी। वह कवि और मेनका के साथ नहीं जाती। इसके विपरीत वह अकेली ही रथ में बैठ कहीं भ्रमणार्थ चली जाती थी, उसमें यह एक नवीनता ही उत्पन्न हुई थी। कवि जब वीणा-अभ्यास कर आश्रम से प्रासाद में आते, तो उनकी प्रतीक्षा में वहाँ प्रियंगुमंजरी नहीं होती थी।

दिन प्रतिदिन प्रियंगुमंजरी का यह विचित्र-व्यवहार अब कवि को भी नहीं रुचने लगा था, वह अब यह भी जानने लगे थे कि मेनका के प्रति प्रियंगुमंजरी के अच्छे व्यवहार नहीं हैं। वह उससे द्वेष करती है

यदा-कदा प्रियंगुमंजरी मेनका को कटु शब्द भी कह दिया करती थी, जिनमें कभी-कभी कवि-सम्बन्धी कटाक्ष होता था; परन्तु मेनका मौन रहती। क्योंकि वह जानती थी कि वह एक दासी है। उसका जीवन ही यही है...।

परन्तु निर्विकार कवि के हृदय में यह चुभने लगा था। कुछ दिनों से उन्होंने आचार्य के आश्रम में वीणा-अभ्यास हेतु जाना स्थगित कर दिया, वे प्रियंगुमंजरी में दिन प्रतिदिन बन रहे इन नवीन व्यवहारों का निराकरण चाहते थे। परन्तु प्रियं के व्यवहार में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं था। वह अकेली ही रथ में बैठ किसी अज्ञात स्थान पर भ्रमणार्थ चली जाती थी।

एक दिन कवि कक्ष में बैठे इसी सम्बन्ध में सोच रहे थे, उनके मस्तिष्क में क्रमशः वह सभी पूर्व की बातें आईं...वह और प्रियं...तथा प्रियं का हँसना...रोना और वक्षस्थल से आ टिकना। आचार्य के समक्ष की प्रियं की पांडित्यपूर्ण चर्चा, अपने भ्रामक तर्क और प्रियं द्वारा उनका खण्डन। आचार्य का स्नेहसमाधान...। क्षण-क्षण में प्रियं का रूठना और उसका मनाना...यह सब कैसी सुखद बातें थीं....! उन दिनों प्रियं के नेत्रों में एक अदृश्य-याचना रहती थी...आज यह क्यों नहीं...? कवि के मस्तिष्क में विद्यापीठ के आचार्य के वाक्य एकाएक ही स्मरण हो आए—"कहीं कुमारी का प्रेम क्षणिक तो नहीं...?" और वस्तुस्थिति को देखते हुए कवि सिहर उठे। कवि ने स्वयं अपने आपसे ही प्रश्न किया—"कहीं मैं प्रियं के मनोरंजन का एकमात्र खिलौना तो नहीं?" और कवि अपने आपके विचार-द्वन्द में विचलित हो उठे। "नहीं!" कवि के आन्तरिक स्नेह ने पूर्व विचारों पर विजय पाई—"प्रियं का स्नेह पवित्र है...। अभी-अभी कुछ दिवस पूर्व ही तो वह मेरे वक्ष से टिक निश्चल हो गई थी!! उसी दिन तो उसने रुदन करते हुए कहा था कि "आप सुखी रहें, यही मैं चाहती हूँ।"

"परन्तु प्रियं का यह व्यवहार ! इसमें क्या रहस्य है ?'—एक विचार ने पुनः कवि के हृदय में आन्दोलन मचाया।

निस्सन्देह कोई कलुषित विचार प्रियंगुमंजरी के भोले हृदय को दूषित किए है—अनेक विचार-द्वन्द के पश्चात् कवि यही निराकरण कर पाए।

प्रियंगुमंजरी आज हर्म्य में नहीं थी। रथ में बैठ वह कवि से दृष्टि बचा आज पुनः कहीं चली गई थी। कवि उसके आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

कुछ समय पश्चात् प्रियंगुमंजरी का रथ द्वार पर रुका, रथ से उतर प्रियंगुमंजरी प्रासाद में आई। कवि मार्ग में आए। उनको सामने देख प्रियंगुमंजरी को रुक जाना पड़ा। क्षण भर तक दोनों एक दूसरे को देखते रहे, दोनों की दृष्टि में रहस्य था। मौन खड़े वे एक दूसरे के हृदय के भावों को पढ़ने का प्रयत्न कर रहे थे।

कवि ने देखा; प्रियंगुमंजरी के नेत्र कुछ सूजे-सूजे-से हैं। सम्भवतः वह कहीं बैठ खूब रोई हो। उसका सुन्दर मुख मलिन हो रहा था।

"कुमारी ! स्वस्थ तो हो न ?"

—कवि ने मौन भंगकर कहा।

"हाँ !" प्रकम्पित कण्ठ से प्रियंगुमंजरी ने कहा। उसकी दृष्टि अवनी पर स्थिर थी।

"प्रियं ! मैं कुछ दिनों से देख रहा हूँ, तुम्हारा व्यवहार मेरे प्रति उदासीनता लिए हुए है, क्या कारण है ?"

प्रियंगुमंजरी मौन रही।

"तुम कई दिनों से अकेली ही रथ में बैठ कहीं भ्रमणार्थ चली जाती हो, आखिर कहाँ जाती हो ?"

प्रियं फिर भी मौन रही।

"यह तो तुम्हें ज्ञात ही है कि तुम्हारी रक्षा का भार मालवेन्द्र ने मुझे सौंपा है, यदि तुम्हें कुछ हो गया तो...?"

प्रियंगुमंजरी ने एक क्षण कवि के मुख की ओर देखा और पुनः नतमस्तक हो गई। बोली कुछ भी नहीं।

"मेनका के प्रति भी तुम्हारे कुछ कटु व्यवहार हैं।"—कवि ने पुनः कहा।

"आपको अब उसी की चिन्ता है...।"—प्रियंगुमंजरी के हृदय का विष धीरे से छलका।

कवि इन्हीं शब्दों में प्रियंगुमंजरी के हृदय को पहिचान गए। उन्होंने कहा—

"प्रियं? उससे द्वेष न करो, वह पवित्र नारी है!" और अनायास ही कवि मुस्कराए। बोले—

"यह तुम्हारा भी दोष नहीं है, द्वेष एवं भ्रम नारी के विशेष गुण होते हैं।"

प्रियंगुमंजरी कुछ भी नहीं बोली। वह अवनी पर दृष्टि किए रही। उसके नेत्रों की कोर में से अश्रुधार ढलककर कपोल पर फैलने लगी। कवि ने यह देखा और प्रियंगुमंजरी को समीप खींच लिया।

"मेरा एक प्रश्न और है—तुम्हें मेरे व्यवहार से तो असन्तोष नहीं? मेरे जीवन का लक्ष्य शान्ति है और वही मैं सदैव खोजता रहता हूँ और सभी में देखना चाहता हूँ! यदि तुम्हें मुझसे कुछ दुःख है, तो कहो; मैं आज ही पुनः आश्रम चला जाता हूँ।"

कवि के अन्तिम शब्दों को सुन प्रियंगुमंजरी सिहर उठी। कवि के एक-एक शब्द ने प्रियंगुमंजरी के हृदय पर पूरा-पूरा असर किया था, उसका रोम-रोम खड़ा हो प्रकंपन कर रहा था। उसका मस्तिष्क भारी-भारी-सा हो उठा। नेत्रों ने अनवरत जल-वृष्टि की। और अकस्मात् ही वह निश्चल हो कवि के वक्ष पर जा गिरी। उसके मुख से अस्पष्ट रूप से यही शब्द प्रस्फुटित हुए थे—

"आप मुझे छोड़ कहीं भी नहीं जा सकेंगे।"

# २६

## स्नेह-सम्बन्ध

नारी का द्वेष नारी तक ही सीमित है, पुरुष तक नहीं ! पुरुष उसके हृदय की एक अदृश्य चाह है और उसके प्रति कभी नारी में द्वेष पाया गया भी, तो मात्र एक स्नेह की भर्त्सना लिए हुए ही । नारी के द्वेष में पुरुष के प्रति किसी प्रकार की आन्तरिक कटुता नहीं होती; अपने अधिकार में स्नेह की याचना रहती है । नारी स्वयं स्नेहमयी है । स्नेह ही उसका अभिशाप और स्नेह ही उसका वरदान है । नारी नहीं, नारी का स्नेह महान है ! और उसी स्नेह की पूर्ति स्नेह-प्रदत्ता पुरुष की ओर से न होने का आभास पाया जाने पर ही नारी का द्वेष पुरुष पर जागृत होता है, नहीं तो पुरुष नारी के हृदय की एक-मात्र चाह है और उसी से वह नारी का श्रद्धेय है ।

नारी स्नेह है और पुरुष उस स्नेह की श्रद्धा । नारी और पुरुष, यह अनादि का सृष्टि-संयोग है और सृष्टि का सृष्टि में विलीनीकरण होने पर्यन्त रहेगा !

प्रियंगुमंजरी भी तो एक स्नेहमयी नारी थी, और कवि उसकी श्रद्धा !

और यही कारण था कि कवि की थोड़ी सी ही शब्द-ताड़ना ने प्रियंगुमंजरी के रोम-रोम को प्रकम्पित कर दिया। वह उस दिन अत्यन्त ही विह्वल हो कवि के समीप बैठ बहुत रोई। कवि ने अनेक प्रकार से प्रियंगुमंजरी को पर्याप्त समय तक समझाया और मनाया।

प्रियं इसी स्नेह की तो प्यासी थी और इसी सम्मान की। कवि अपनी अविराम गति से चल रही संगीत-साधना के कारण यह स्नेह, यह सम्मान प्रियंगुमंजरी को नहीं दे पाये थे। और तभी तो वह रुष्ट थी! और इसी कारण से मेनका उसके मानस में शंका का विषय बन गई थी।

कवि से उसे स्नेह तथा सम्मान, दोनों ही प्राप्त हुए। वह पुनः प्रफुल्ल हो उठी। उसे स्वयं अपने पूर्व के किए व्यवहार अनुचित दृष्टिगोचर हुए। वह अनुभव कर चुकी थी कि कवि ही उसका जीवन है, कवि के बिना वह एक क्षण भी प्रफुल्ल नहीं रह सकती।

प्रियंगुमंजरी के व्यवहारों में परिवर्तन आया। वह पूर्ववत् पुनः अपना स्नेह कवि को प्रदान करने लगी। वह वही करती जो कवि को प्रिय होता।

कवि वीणा-अभ्यास हेतु मेनका के साथ आचार्य के आश्रम जाते, तो वह उन्हें प्रासाद से द्वार तक छोड़ती आती और जब तक कवि रथ में बैठे नेत्रों से ओझल नहीं हो जाते, वह अपलक स्नेहमयी दृष्टि से उसी दिशा में देखा करती। कवि जब लौटते तो प्रफुल्ल मुख लिए वह द्वार पर उनके स्वागत की प्रतीक्षा में खड़ी मिलती थी।

आज भी जब कवि वीणा-अभ्यास कर आश्रम से प्रासाद लौटे, तो कवि की प्रतीक्षा में प्रियंगुमंजरी राजरथ्या पर दृष्टि टिकाए द्वार पर ही खड़ी थी। निश्चित समय पर कवि का रथ प्रासाद-द्वार पर आकर रुका। मुस्कराते हुए कवि रथ से उतरे और गौर-सुडौल भुज में वीणा

कसे हुए मेनका भी। सादर आगे बढ़ प्रियं ने कवि का स्वागत किया। इष्टालाप करते दोनों प्रासाद में आए।

आज कवि अत्यन्त प्रसन्न थे। उन्होंने प्रियं से कहा—

"प्रियं! आचार्य ने आज मेरा वीणावादन सुनने की इच्छा व्यक्त की है! उन्होंने तुम्हें भी आमंत्रित किया है।"

"यह तो अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है।" प्रियं हर्षित हो बोली—मैंने भी आपका वीणा-वादन नहीं सुना।"

"कल आचार्य के समक्ष ही इनका यह कौशल आप देखिए!"

—मेनका ने भी कुमारी से आग्रह किया।

"इन्हें तुमने संगीत में पटु कर ही दिया!"

—कृतज्ञ हो प्रियं ने कहा।

आज वह अत्यन्त प्रसन्न थी।

## २७

## वीणा-वादन

आचार्य वररुचिजी के आश्रम में वीणा झंकृत हो उठी, आम्र-पल्लवों ने भी आज वीणा की लय में अपना स्वर मिलाया। आचार्य मंत्रमुग्ध हो गद्‌गद् हृदय से संगीत का रस ले रहे थे। समस्त बटु-गण निर्निमेष दृष्टि से चित्रवत् बैठे कवि कालिदास के संगीत से प्रेरित हो झूम रहे थे। आचार्य के पार्श्व में प्रसन्न मुद्रा में बैठी प्रियंगुमंजरी कालिदास के मुख-मण्डल पर संगीत के उतार-चढ़ाव पर क्रमशः द्रुत, मध्यम तथा विलम्बित के जो भाव परिवर्तित हो रहे थे, उनको देख-देख कर प्रमुदित हो रही थी। कवि की उँगलियों द्वारा एकाएक ही किए जानेवाले स्वर-परिवर्तन पर आचार्य मुस्करा देते। कभी-कभी उनकी उँगलियाँ स्वर-ताल के लिए मटक उठतीं; पैर के तल पृथ्वी पर 'थाप' देने लग जाते। उनके नेत्र कवि की नृत्यरत उँगलियों पर स्थिर थे। मेनका कवि के सम्मुख बैठी अपनी स्नेहिल मुस्कान वितरित कर रही थी।

कवि ने सतत् दो घड़ी तक वीणा-वादन किया। सभी मंत्रमुग्ध थे। एक बार वीणा के सम्पूर्ण स्वरों को सामूहिक रूप से झंकृत कर कवि ने वीणा-वादन बन्द किया।

"श्रेष्ठ, बहुत श्रेष्ठ !!" आचार्य प्रसन्न हो बोले—"अब तो तुम संगीत में भी अद्वितीय हो गए ! मालवेन्द्र आवेंगे और तुम्हारी वीणा सुनेंगे तो कितने हर्षित होवेंगे।"

—आचार्य गद्‌गद् हो रहे थे।

"—सम्राट् कब आ रहे हैं, देव !"

कवि ने पूछा।

"शीघ्र ही !" आचार्य कहने लगे—"आज ही कलिंग से आए एक अश्वारोही ने योगिराज को सूचित किया है कि सम्राट कापित्थ से होकर शीघ्र ही आ रहे हैं।"

"कलिंग का और कोई कुशल-वृत्त नहीं ?"

"है, प्रसन्नता का।" आचार्य मुस्कराए—"आन्ध्र-नरेश सातकर्णि ने मालवेन्द्र को अपना सम्राट स्वीकार कर लिया है। मालवेन्द्र पर तो स्वयंभू प्रसन्न हैं !"

"ओह ! कितनी प्रसन्नता का विषय है...!"

प्रियंगुमंजरी हर्षित हो बोली।

"अभी तो एक और प्रसन्नता का संयोग बन रहा है !"

—आचार्य ने मुस्करा कर कहा।

"वह क्या ?"

—प्रियंगुमंजरी ने पूछा।

"शुभ योग जो बन रहे हैं ! शीघ्र ही तुम्हें वधू के रूप में मालव प्रजा देखेगी, यह प्रसन्नता का विषय नहीं ?"

—आचार्य मुस्करा दिए।

कालिदास कुछ न बोले। मेनका मुस्कराई। प्रियंगुमंजरी आचार्य की पीठ से सट लज्जावश कछुए की भाँति अपने अंग को समेटने लगी। यह देख आचार्य पुनः मुस्कराए।

प्रियंगुमंजरी को अधिक लज्जित देख कवि भी मुस्कराए। सहसा खड़े हो कवि ने आचार्य से विनम्र निवेदन किया—

"हमें आज्ञा दें, आचार्य प्रवर! अब रात्रि अधिक हो चली है।"

"हाँ, हाँ, अवश्य!"

—आचार्य ने प्रसन्न हो आज्ञा दी। मेनका और प्रियंगुमंजरी भी आचार्य के आदेश पर उठ खड़ी हुईं। सभी जाने को उद्यत हुए।

आचार्य ने कहा—

हाँ, देखो! कल मेनका के साथ वीणा अभ्यास को अवश्य आना। सम्भवतः मैं कल ही कापित्थ चला जाऊँगा। आश्रम का भार भी अब तुम्हीं पर है!"

"जो आज्ञा, आचार्य!"

तीनों रथ पर आ बैठे। रथ शीघ्र ही रात्रि के अंधकार में घुल मिल गया। अभी भी वायु-वेग के साथ घोड़े की टापों का रव आश्रम में बैठे आचार्य सुन रहे थे।

## २८

# अनहोनी

आज तो कुमारी अत्यन्त प्रसन्न दिखाई दे रही हैं! हमें भी तो ज्ञात हो वह क्या सु-समाचार है।"

प्रियंगुमंजरी को अकेली ही अपने कक्ष में चहकते देख एक दासी ने व्यंग किया।

"कल रात्रि कविवर ने इनके सम्मुख वीणा-वादन किया था। सम्भवत: प्रसन्नता का कारण यही है!"

दूसरी दासी ने समीप ही गवाक्ष के परिधान को सजाते हुए चुटकी ली।

प्रियंगुमंजरी को यह शब्द हृदय से प्रिय लगे; परन्तु कृत्रिम अनिच्छा प्रकट करती हुई बोली—"हट! पगली, तुम्हें हर समय यही दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण तो मैं तुममें नहीं बैठती!"

इस पर मधुमंजरी ने मुस्करा कर कहा—"कुमारीजी! हम पर व्यर्थ ही दोषारोपण कर रही हैं। यह तो स्वयं आपको भी स्वीकार करना होगा कि कविवर से आप सदैव "ऋतुसंहार" के सर्ग सुनने में लगी रहती हैं; फिर हमारे लिए कहाँ अवसर?"

"हाँ, आली...! तभी...!!"

—दूसरी दासी ने व्यंगमय समर्थन किया। सभी हँस पड़ीं।

मधुमंजरी ने विषय और आगे बढ़ाया। बोली—

"मैं तो कवि के सम्मुख जाने तक से भय खाती हूँ! सत्य कहती हूँ, आलि! जब कुमारीजी ने एक समय मुझे उनकी सेवा में नियुक्त किया; बड़ी समस्या बन आई थी। वे क्या प्रश्न करते और मैं क्या उत्तर देती। वे मुझे कुछ कार्य देते, मैं कुछ और ही कर बैठती। उनके मुख की ओर देखने का तो अभी भी साहस नहीं!"

प्रियंगुमञ्जरी हँसी—"क्या दैत्याकृति है··· ?" "नहीं! उनके काम-देव से अद्वितीय मुख का भय। मैं पृथ्वी पर दृष्टि किए रहता हूँ।"

"मेनका का साहस तो देखो!" इस बात पर एक दासी कहने लगी—"प्रतिदिन कविवर को वीणा सिखलाती थी। अब तो अभ्यास भी साथ-साथ ही करती है। यहाँ तो चर्चा करने से ही भय-सा लगता है!"

इन वाक्यों को सुन सभी खिल-खिलाकर हँसीं। प्रियंगुमञ्जरी को भी हँसी आई। वह बोली—

"उनके सम्बन्ध में इस प्रकार की चर्चाएँ करोगी, तो उनके कोष्ठक में नहीं जाने पाओगी, समझी!"

यहाँ यह व्यंग-वार्ता चल ही रही थी कि सहसा एक दौवारिक दासी ने आ नतमस्तक हो कुमारी से निवेदन किया—

"कुमारी जी! कलिंग से सम्राट के दूत आए हैं। वह प्रधान-कक्ष में बैठे आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

"पिताजी के दूत!"—प्रियंगुमञ्जरी अत्यन्त हर्षित हुई और कक्ष की ओर दौड़ी चली गई।

सभी हँसीं।

दासी ने सम्राट की कुशल पूछ दूत से पत्र लिया और कुमारी को दे दिया। प्रियंगुमंजरी ने पत्र को पढ़ा। "पिताजी आ रहे हैं!" प्रेम-विभोर हो उसने पत्र को अनेक बार पढ़ा—

पुत्री, प्रियं सुखी रह !

हम इसी कक्ष में शीघ्र ही आ रहे हैं। दूसरी सूचना पाते ही तुम और कवि कापित्थ आ जाना। हमें आचार्य वराहमिहर जी के आग्रह से कापित्थ होकर ही उज्जयिनी आना होगा। सम्भवतः आचार्य वररुचि जी भी वहाँ पहुँच गए होंगे !

स्वयंभू की कृपा-रक्षा में—
तुम्हारा पिता, विक्रम

प्रियं ने पत्र को हृदय से लगा लिया। हर्ष से उनके नेत्र सजल हो उठे।

कवि प्रासाद में नहीं थे, वे मेनका के साथ वीणा-अभ्यास हेतु आचार्य के आश्रम गए हुए थे। हर्षातुर प्रियंगुमंजरी ने तत्काल रथ निकलवाया और यह सन्देश कवि को सुनाने स्वयं आश्रम आई। वह दौड़ी-दौड़ी उपवन में पहुँची।

परन्तु यह क्या...? वह वहीं स्तम्भित हो खड़ी रह गई। वही स्थान, जहाँ कवि और वह पूर्व में मिलते थे। वही आम्र-वृक्ष, जहाँ उनकी स्नेह-चर्चा चलती थी। परन्तु...आज यह क्या...? प्रियंगुमंजरी ने एक बार पुनः देखा...वही कवि और कवि की भुजा में छिपी पड़ी थी दासी मेनका !!

प्रियंगुमंजरी का हर्ष, वह उत्साह योजनों दूर हो गया। वह जिस पृथ्वी पर खड़ी थी, उसे गरम तवे-सी लगी। उन्मुक्त वायु में "लू-सा" अनुभव हुआ। हृदय ने एक-एक साँस में अनेक धड़कनें लेना प्रारम्भ कर दिया। उसे लगा पृथ्वी तीव्र-गति से घूम रही है और वह अभी ही गिर जाएगी।...बस इससे अधिक और कुछ नहीं देख सकती....नेत्रों से सावन-भादों-सी झड़ी लगने लगी। वह पुनः रथ में आ बैठी। सारथी ने घोड़ों को हवा से बातें करने छोड़ दिया।

प्रियंगुमंजरी प्रासाद में आ गई। और अपने कोष्ठक के पर्यङ्क पर औंधा मुँह किए जा पड़ी।

## २६

# संगीत-स्पर्धा

आचार्य वररुचिजी के आश्रम के मनोरम उपवन में आम्र-कुञ्ज की तुनक-तुनक कर क्षण-प्रतिक्षण रुक-रुककर बह रही निर्मल-स्वच्छ वायु, आज आश्रम-मण्डल के शान्त-वातावरण को अति मोहक बना रही थी। ऐसे में एक आम्र-वृक्ष की घनी छाँह में बैठे दो कलाकार अपनी-अपनी वीणाओं को अंक में लिटाए स्वर-साम्य देख रहे थे। दोनों कला-प्रेमी अभी-अभी ही प्रासाद से कुमारी प्रियंगुमंजरी की बिदाई ले वीणा-अभ्यास हेतु आश्रम आए थे।

आचार्य आज कापित्थ गए हुए थे और आश्रम के अन्तेवासीगण विद्यापीठ। आश्रम-रक्षकों को छोड़ आज यहाँ कोई नहीं था।

चिड़ियों की चह-चहाहट, मयूरों की पद-ध्वनि, आम्र-शाखाओं का कर्ण-प्रिय "चरर...चूँ" का गीत, वायु की धीमी-धीमी सरस-सुखद "...सर-सर" ध्वनि तथा कवि और मेनका की वीणा के तारों के

मिलाने की "टुन-टुनाहट" के अतिरिक्त यहाँ और कोई किसी प्रकार का शब्द नहीं था।

कुछ समय तक दोनों कलाकार मौन बैठे अपनी-अपनी वीणा के तारों में स्वर-साम्य देखते रहे। सहसा वीणा के स्वरों को सामूहिक रूप से झंकृत करते हुए मेनका ने कवि से कहा—

"कविवर! आज आपकी मेरी प्रति-स्पर्धा ही हो! आपकी साधना कहाँ तक सफल रही, यह मैं भी तो देखूँ!"

और मेनका ने कवि की ओर भावपूर्ण दृष्टि से देखा।

"ठीक है।" कवि मुस्कराए—"परन्तु मेनका, यह स्मरण रखना; स्पर्धा में शिष्य ही विजयी रहेगा!"

"मेरे लिए यह अत्यन्त हर्ष का विषय होगा, श्रीमान्!"—मेनका प्रसन्न हुई।

कुछ क्षण तक पुनः दोनों कलाकार अपनी-अपनी वीणा के तारों में उलझे रहे। मेनका ने कवि से पूछा—"कौन से स्वर पर वीणा मिलाऊँ? श्रीमान्!"

"गान्धार ही उपयुक्त होगा।"

दोनों ने वीणा के तारों को गान्धार पर स्थिर किया। स्वर-साम्य हो जाने के अनन्तर दोनों कलाकारों की कुशल उँगलियाँ अंक में लेटी वीणा पर नृत्य करने को उद्यत हुईं। दृष्टि-विनिमय कर दोनों ने सहस्वर में वादन आरम्भ किया। तत्काल ही दोनों की आतुर अभ्यस्त उँगलियाँ वीणा के तारों पर नृत्य करने में तल्लीन हो गईं। अपनी गति से वीणा पर नृत्य कर रही उँगलियों में से "माध्यमिका" कौन-सी है, लक्षित करना असम्भव था। दोनों कलाकारों की चंचल उँगलियाँ अपने प्रतिस्पर्धी को परास्त करने के पूरे-पूरे प्रयत्न में गतिवान थीं। दृष्टि स्पर्श हो जाने पर दोनों विचित्र भावों को मुख पर बना मुस्कराते। उँगलियाँ उसी गति से वहीं तारों पर अनवरत उठ-गिर रही थीं और दोनों ही परस्पर

मुग्ध थे। संगीत से सरस बनी वायु उन्मुक्त हो तुनक-तुनक कर बह रही थी। और झूम रहा था आचार्य का सूना उपवन।

पर्याप्त समय तक यहाँ यही तारतम्य रहा। न कवि की उँगलियाँ शिथिल हो रही थीं, न मेनका की ही।

परन्तु मेनका के कुन्तल-केशों से रलक कर स्वेद-बिन्दु कानों से नीचे कपोल तक बह आए थे, कुछ मोती के समान ललाट पर भी चमक आए थे—यह कवि ने देखा और वह मुस्कराए।

कवि की उँगलियाँ पुनः द्विगुणित गति से वीणा पर नृत्य कर उठीं; परन्तु मेनका की कोमल उँगलियाँ तरुण-कवि की उँगलियों के समान अब गति न पकड़ सकीं। और मेनका की मुख-मुद्रा बिगड़ी। प्रयत्न करने से एक बार पुनः मेनका की कोमल उँगलियाँ गति पकड़, द्रुत से सहसा विलंबित में आ शिथिल हो गईं। स्वर-सामंजस्य बिगड़ा और वीणा में तार टूटने की ध्वनि हुई, साथ ही मेनका भी मूर्छित होकर वीणा पर ही लुढ़क पड़ी।

कवि के चक्षु बन्द थे। उँगलियाँ अपने आप वीणा के तारों पर स्वरों को टटोल-टटोल कर उठ-गिर रही थीं। वीणा के तार टूटने की ध्वनि के साथ ही कवि के चक्षु खुले।

"मेनका!"

—कवि विचलित हुए। उन्होंने देखा मेनका मूर्छित है। उसका सम्पूर्ण शरीर श्रम-बिन्दुओं से तर था।

"मेनका!"

—हतप्रभ हुए कवि ने पुनः पुकारा; परन्तु मेनका तो निश्चल थी।

कवि ने मेनका को अंक में उठा लिया और अपने अमरु शाल के अञ्चल से हवा करने लगे।

कुछ समय पश्चात् मेनका ने एक दीर्घ श्वास ली और नेत्र उघारे।

कवि के अङ्ग में अपने आपको पा वह एक क्षण के लिए हतप्रभ हुई। लज्जित होकर वह उठ बैठी तथा अपने वस्त्रों को सम्हाला।

"जल पियोगी, मेनका?" कवि ने पूछा।

"नहीं, स्वस्थ हूँ!"

"मेनका! तुम्हें यह क्या हो गया था?" कवि ने गम्भीरता से पूछा।

"कुछ भी तो नहीं!" मेनका मुस्कराई, और एक अँगड़ाई लेकर बोली—

"कविवर! मैं हार गई!!

# ३०

## कटु आघात

कवि जब आश्रम से प्रासाद में आए, तो आज द्वार पर उनकी प्रतीक्षा में प्रियंगुमञ्जरी नहीं थी, और न कोई दासी ही। वे अपने कक्ष में आए, आज कक्ष भी सुना ही था।

"मेनका! आज हर्म्य सूना-सूना सा क्यों है?"

—कवि ने प्रासाद की नीरवता को देख मेनका से प्रश्न किया।

"ज्ञात नहीं, श्रीमान्!—मेनका को भी आश्चर्य हुआ!

"तू भी अपने कक्ष में जा शयन कर। मैं भी कुछ विश्राम करूँगा।"

—कवि के अन्तस्तल में न जाने क्यों कुछ शंका-सी उत्पन्न हुई और मेनका को विदा कर वह अपने पर्यंक पर लेट गए। एकाएक ही न जाने क्यों कवि का हृदय उदास हो उठा और वे पर्याप्त समय तक प्रियंगुमंजरी की प्रतीक्षा करते रहे; परन्तु प्रियं नहीं आई। न इस मध्य कोई अन्य सेविका ही। पर्याप्त समय तक कवि इसी सम्बन्ध में सोचते रहे—"प्रियं आज क्यों नहीं आई। कहीं आज पुनः अन्यत्र भ्रमणार्थ

तो नहीं चली गई !" और इन सब प्रश्नों का कोई निराकरण मस्तिष्क में न पा कवि के पैर अनायास ही प्रियंगुमञ्जरी के कक्ष की ओर उठ चले।

द्वार पर दो दासियाँ नियुक्त थीं, जिन्होंने आज कक्ष में जाने से कवि को भी रोक दिया। विनम्र हो उसने निवेदन किया—

"क्षमा करें, महोदय कक्ष में प्रवेश निषेध है।"

कवि मुस्कराए—"मेरे लिए भी ?"

"हाँ, श्रीमान्। ऐसा ही आदेश है।"

"ऐसा क्यों ?"

—कवि के हृदय में आश्चर्य-मिश्रित क्रोध उत्पन्न हुआ।

"ज्ञात नहीं।" दासी कहने लगी—"परन्तु आज सायं कलिंग से एक 'चर' आया था—सम्राट आ रहे हैं।" यह सुखद सन्देश भी दिया। कुमारी ने उसी समय रथ सज्जित करवाया और फिर स्वयं अकेली ही रथ में बैठ न जाने कहाँ गई थी। उस समय वह अत्यन्त प्रसन्न थीं; परन्तु लौटी तब किसी से कुछ नहीं बोली। मुख कुम्हलाया-कुम्हलाया-सा क्लान्त हो रहा था। कक्ष में आ कुमारी ने आदेश दिया कि आज मेरे कक्ष में कोई भी न आए......।"

कवि आश्चर्य के गहरे तल में खोते चले जा रहे थे और दासी कहती ही रही—

"ऐसे 'सुकन्या' से कुमारी सदैव ही व्यंग-वार्ताएँ किया करती हैं; परन्तु आज जब वह जल का पात्र ले समाचार जानने गई, तो उसे भी डाँट दिया। सुकन्या ने बताया कि उस समय कुमारी जी रो रही थीं।"

कवि कारण कुछ भी न समझ पाए। मस्तिष्क में अनेक प्रश्न उठे—रथ पर बैठ सायंकाल प्रियंगुमंजरी कहाँ गई होगी ? क्यों गई होगी ? और अब रो क्यों रही है ? और इस प्रवेश-निषेध की कटु अपमान-जनक आज्ञा में क्या रहस्य है ? मस्तिष्क में प्रश्न अनेक थे; परन्तु निराकरण एक का भी नहीं।

कवि ने अपने विचारों को दबाया और कृत्रिम हँसी हँसकर कहा—"प्रियं बहुत भोली है, हठी उसका स्वभाव ही है। यदि कुछ कह दिया हो, तो चित्त न लाना।"—और गन्तव्य पूछ लिया—"कबसे है कक्ष में कुमारी?"

"सायंकाल से ही, दो घड़ी हो गई होगी!"

"मैं प्रियं के सम्मुख जाता हूँ!"—और कवि ने कक्ष-द्वार में प्रवेश किया।

"श्रीमान्...!"—दासी विचलित हुई।

कवि ने मुस्करा कर कहा—

"तुम्हारा कर्त्तव्य और प्रियं का आदेश मुझे ज्ञात है।"

कवि कक्ष में चले गए। दासी स्तब्ध-सी खड़ी देखती ही रह गई।

कक्ष में जाकर कवि ने देखा—प्रियंगुमंजरी पर्यङ्क पर औंधा मुख किए मृणालनाल के समान अपनी कोमल-नरम भुजाओं में मुख छिपाए पड़ी थी। हिचकी भरने के कारण उसका समूचा तन्व गात यदा-कदा थिरक उठता था। परिधान अस्त-व्यस्त थे। ऐसा आभास होता था—अभी-अभी ही बहुत रोकर रुकी हो। कालिदास निर्निमेष भाव से प्रियंगु-मंजरी की प्रतिक्रियाओं का पर्याप्त समय तक अवलोकन करते रहे।

"प्रियं...!"

—कवि ने साहस कर पुकारा।

वह मौन पड़ी सिसकियाँ भरती रही।

"प्रियं! तुम्हें क्या हुआ है? तुम रो क्यों रही हो?"

कवि ने पर्यङ्क पर बैठते हुए तथा प्रियंगुमञ्जरी के हाथ को अपने हाथ से सहलाते हुए पूछा। प्रियंगुमञ्जरी ने अब भी कोई उत्तर नहीं दिया; परन्तु हिचकियाँ और भी बढ़ गईं।

कवि ने अति-आर्द्र हो हिचकियाँ भरने से थिरक रहे प्रियंगुमञ्जरी के तन्व-गात को भुज में समेट कर उठा लिया और कहा—

"बोलो न, तुम क्यों रो रही हो स्वस्थ तो हो न ?"

प्रियंगुमञ्जरी ने नारीत्व का प्रदर्शन किया। वह कवि से झटक कर दूर जा खड़ी हुई। बोली—आप अपने कक्ष में जाइए। मैं अस्वस्थ हूँ, कृपा कर मुझे न छेड़िए।"

एक-एक शब्द पर प्रियं का कण्ठ अनेक बार काँप उठा था। नेत्रों ने अविराम जल-वृष्टि की।

"यह क्या विक्षिप्तता है, कुछ कहो भी तो कि क्या हुआ है ? अपने अश्रु पोंछो।"

—कवि हतप्रभ थे।

"इससे आपको क्या ? मैं कह तो रही हूँ; अस्वस्थ हूँ ! अपने कक्ष में जाइए !"

—प्रियंगुमञ्जरी के स्वर में भर्त्सना थी।

"प्रियं ! विवेक धरो। जल पियोगी ?"

"जल तो जाकर मेनका को पिलाइए, मुझे नहीं।" प्रियंगुमंजरी ने गरल उगला—"उसे ही अंक में लिपटाइए, आँचल से हवा भी कीजिए, मुझे नहीं !...जाइए !!" प्रियं ने चीखकर द्वार की दिशा में संकेत किया—"वह प्रतीक्षा में होगी।"

"प्रियं ! विक्षिप्त हो गई हो क्या ?"

—कवि के भी चक्षु तने।

"जो हूँ; प्रत्यक्ष हूँ !...और तभी तो मुझे फुसला रहे हैं !!" प्रियंगु-मंजरी ने एक गहरी हिचकी ली—"मुझे तंग न करिए !"

—प्रियंगुमंजरी का कण्ठ काँप उठा और वह स्वतः भी।

"प्रियं !.......।"

"प्रियं नहीं, अब तो मेनका ! वही आपकी सर्वस्व है।"

प्रियं ने पुनः कहा—"जाइए...।"

"जा रहा हूँ !"—कवि को क्रोध आया। वह आज अत्यधिक अपमानित हो चुके थे। प्रियंगुमंजरी ने आज बहुत कटु शब्द कहे थे।

—"आचार्य के आश्रम...!"

—कवि ने कहा और पलटे।

"उस पवित्र भू को आचार्य की अनुपस्थिति में क्यों अपवित्र करते हैं !"

—प्रियंगुमञ्जरी ने और भी गरल उगल दिया क्रोधावेश में। यद्यपि उसे ऐसा नहीं करना चाहिए था।

कवि के चक्षु तने, भृगुटी फड़की; हृदय में लपटें उठीं। प्रियंगुमंजरी आज अत्यधिक आहुति दे चुकी थी; परन्तु फिर भी कवि के वाक्य क्षिप्राजल से निर्मल और चन्दन से भी शीतल हो मुख से प्रस्फुटित हुए—

"प्रिये! कलुषित हृदय से कटु शब्द न कहो। वही होगा जो तुम चाहती हो। तुम्हारे सुख के हेतु मैं उज्जयिनी ही त्याग दूँगा।"

कवि जाने को पलटे और सहसा रुककर बोले—

"और सुनो! मेनका के चरित्र पर तुमने जो व्यर्थ आक्षेप लगाए हैं—वह अक्षम्य है। वह पवित्र नारी मेरी भगिनी है।"

और प्रियंगुमंजरी की ओर बिना देखे ही कवि तत्काल कक्ष के बाहर हो गए।

कवि के अन्तिम शब्दों को सुन प्रियंगुमंजरी के शरीर में सहसा चींटियाँ-सी रेंगीं। मस्तिष्क भारी-भारी-सा हुआ। शरीर-शिथिल पड़ा, एक सन्नाटा-सा छाया उसके सारे बदन में और वह वहीं निःश्चल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी!

# ३१

## उज्जयिनी शत्-शत् अभिनन्दन !

कवि जब अपने कोष्ठक के बाहर आए, उस समय हर्म्य की सेविकाओं ने उनका एक नवीन रूप ही देखा—कवि ने अपने राजसी वस्त्र उतार वह वस्त्र पहिन लिए थे जो वे विद्यार्थी जीवन में पहिना करते थे। पैरों में भी बहुमूल्य जड़ाऊ पादुका के स्थान पर अब अपनी वही पुरानी जीर्ण पादुका पहिन ली थी। बगल में कुछ "ऋतुसंहार" के पत्र दबे हुए थे और वे बिना किसी की ओर देखे हर्म्य के बाहर जा रहे थे। उनके मुख पर अत्यन्त गम्भीर भाव लक्षित हो रहे थे।

प्रासाद को त्याग कवि राज-मार्ग पर आए। एक बार पलट कर उन्होंने मालवेन्द्र के विशाल हर्म्य की ओर रहस्यमय दृष्टि से देखा—प्रासाद पर अम्बर की ओर मुख उठाए पताका धीरे-धीरे वायु में तैर रही थी। कवि के गम्भीर मुख पर एक मुस्कराहट की आभा खिंच आई। कर जोड़ कवि ने श्रद्धा से अर्धोन्मीलित नेत्र कर उज्जयिनी के इस भव्य प्रासाद को नत-मस्तक होकर प्रणाम किया। आन्तरिक ध्वनि हुई—"उज्जयिनी, शत-शत अभिनन्दन !" और सहसा कवि की दृष्टि एकाएक ही प्रियंगुमंजरी के कोष्ठक-गवाक्ष पर एक क्षण रुकी। देखा—एक शुभ्र

कपोत-युग्म वहाँ बैठा था। अभी-अभी ही जो कपोत "गुटुर-गूँ...गुटर-गूँ" करते अपनी प्रणय-लीला में तल्लीन थे, वही दोनों परस्पर आपस में चोंच लड़ाने लगे। पंख आपस में फड़-फड़ाए और उनमें से एक देखते ही देखते प्राची दिशा में अम्बर की ओर मुख किए उड़ चला—न जाने कहाँ!

कवि के करुण नेत्रों के कानों में कुछ जल-बूँदें उभरीं और उन्होंने अपने निर्मल-नेत्र राज्य-प्रासाद पर से हटा पुनः राज-मार्ग पर केन्द्रित कर लिए।

और कवि के चरण उठ चले अवन्तिका के राज-मार्ग पर अपने चिन्ह छोड़ते, न जाने किस गन्तव्य स्थल की ओर!

# ३२

## विदिशा की ओर

सायंकाल जब समीप की पर्वतमालाओं में से विदिशा-नगरी की ओर झाँकता हुआ सूर्य धरती में समाने को उत्सुक था, पक्षी "काँव-काँव" "टीं-टीं" "चीं-चीं" करते हुए अपने-अपने घोसलों पर आ, वृक्षों को धुपा-से चले थे। और कुछ अम्बर में पंख फैला उन्मुक्त-स्वच्छन्द वायु में तैरते हुए अनेक प्रकार से क्रीड़ा करने में तल्लीन थे। तब दूर वेत्रवती के मनोरम दुकूल पर बैठे कवि कालिदास कभी "नीच गिरि" पर्वतमाला में छिप रहे थके शिथिल भास्कर को, तो कभी वेत्रवती में बन रहे उसके प्रतिबिम्ब को देख रहे थे।

वेत्रवती के निर्मल-स्वच्छ जल में सहसा एक मेघ का टुकड़ा उतरा। एक बावरी मछली ने वेत्रवती के निर्मल-जल में उभरे शुभ्र मेघ के प्रतिबिम्ब में आकर पूँछ फटकारी। कुण्डलाकार हिलोर वेत्रवती के मन्थर गति से बह रहे जल में फैली, साथ ही मेघ का प्रतिबिम्ब धूप में सूख रहे शुभ्र-परिधान के समान लहराया—कालिदास के थकान से शिथिल बने मुख पर कुछ मुस्कराहट की रेखाएँ खिचीं, साथ ही वे उठ खड़े हुए।

यहाँ से विदिशा लगभग एक कोस के अन्तर पर ही होगा। पहाड़ी की कोर से विदिशा के उत्तुङ्ग प्रासाद के शिखर झाँक रहे थे। और

सबके मध्य अपनी विशेष प्रतिभा लिए स्वच्छ-गगन में लहरा रही थी वयोवृद्ध विदिशा-नरेश भागभद्र के प्रमुख हर्म्य की पताका।

कवि विदिशा के मार्ग पर अग्रसर हो गए। मस्तिष्क में विदिशा-सम्बन्धी अनेक विचार थे। व्योवृद्ध सम्राट भागभद्र की धर्म-प्रशंसा, विदिशा का वैभव सर्वत्र प्रख्यात था। इन्हीं दिनों में यहाँ एक यवन ग्रीक प्रतिनिधि होलियोदुरोस ने आकर सम्राट भागभद्र के निकट सहर्ष वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया था। और उसकी चिर स्मृति के लिए उसने एक मंदिर का निर्माण करवा, एक विशाल उच्च प्रस्तर-स्तम्भ का रोपण भी करवाया था। जिससे विदिशा और विदिशा के भागभद्र की ख्याति दिग्-दिगन्त में व्याप्त हो चुकी थी। और यही कारण था कि उस प्रतिभाशाली नरेश को एवं उसी वैभवशाली नारी को देखने की हार्दिक अभिलाषा थी। इसी से प्रेरित उनके चरण विदिशा की दिशा में गतिशील थे। नीचगिरि के पथरीले पठार को त्याग कालिदास की पादुका विदिशा की पावन पृथ्वी पर उभरी धूल पर एक के बाद एक नूतन चिन्ह प्रस्थापित करती आगे उठती चली जा रही थी—अपने गन्तव्य की ओर।

यही पादुका गत दो वर्षों से समस्त आर्यावर्त के प्रमुख-प्रमुख स्थलों पर ऐसे ही चिन्ह अंकित करती आज विदिशा के मार्ग पर अग्रसर थी।

कवि विशाल वैभव-शालिनी नगरी विदिशा के गढ़-द्वार पर रुके। उच्च प्राचीरों से रक्षित विदिशा नगरी की छटा अनुपम थी। आस-पास दूर-दूर तक फैली हुई पर्वतमाला भला किसका मन न मोह लेती। कवि ने एक बार उत्सुक नेत्रों से विदिशा के विशाल गढ़-द्वार को देखा—द्वार के समीप बने पन्थागार पर बैठे गढ़ के द्वार-रक्षक इन्हीं की ओर देख चर्चा कर रहे थे। प्रतिक्रियाओं से स्पष्ट था कि चर्चा का विषय नव आगन्तुक कवि ही है।

कवि ने निकट जाकर पूछा—

"भट्ट ! नगर में प्रवेश पाने हेतु हमें क्या आवश्यक है ?"

"जहाँ से आपका आगमन हुआ हो वहीं की राज्यमुद्रा ।"

—कवि के जाज्वल्यमान मुख की ओर देखते हुए द्वार-रक्षक ने कहा।

"यदि वह न हो, तो ?"

कवि की सौम्य-मुख-मुद्रा से कुछ प्रभावित-सा हो द्वार-रक्षक बोला—

"तो, गढ़रक्षक की आज्ञा आवश्यक है।"

कवि मौन हो कुछ विचार-द्धब हुए। एक कर्मचारी ने शिष्य से पूछा—

"विद्वन् ! आपके आगमन का शुभ प्रयोजन ? आपकी एँड़ी पर उभरे लोहू से स्पष्ट है कि आप पैदल-पैर ही कहीं दूर से आ रहे हैं !"

"सत्य है मित्र !"—कवि ने एक क्षण द्वार-रक्षक के भावुक मुख की ओर देखा और फिर अपने रक्त-रंजित पैरों को देख कुछ मुस्कराए और बोले—

"वयस्य ! सायंकाल गढ़रक्षक आज्ञा देंगे ?"

"अवश्य ! आपके समान प्रतिभाशाली यात्री को तो अवश्य ही।" और कवि के सागर-सी गहराई लिए हुए प्रखर नेत्रों में दृष्टि केन्द्रित कर उसने पूछा—"आपका शुभ नाम ? मैं आपके सम्बन्ध में गढ़-रक्षक को क्या परिचय दूँ ?"

इस भद्र पुरुष का परिचय पाने की स्वतः द्वार-रक्षक की भी तीव्र उत्कण्ठा थी।

कवि मुस्कराकर बोले—

"मित्र ! परिचय, बटोही पर उचित है। नाम से क्या प्रयोजन ? कहना विदिशा के दर्शनार्थ आए हैं, कोई विशेष लक्ष्य-अभिलाषा नहीं।"

"महात्मन् ! प्रत्येक यात्री का पूर्ण परिचय अपरिहार्य है— यह राजाज्ञा है।"

"साधु-साधु !" कवि मुस्कराए—"परन्तु यह जानकारी हमें तुमको ही देनी होगी, या गढ़-रक्षक को ?"

"हमें ही !"

—द्वार-रक्षक ने अधिकार प्रदर्शित किया ।

"तो फिर हमें विदिशा के दर्शन से वंचित रहकर ही पुनः वापस लौट जाना होगा ।"

"ऐसा...क्यों ?"

—एक कर्मचारी ने साश्चर्य पूछा ।

क्योंकि हम परिचय देने में असमर्थ हैं ।"

"हमें न सही गढ़रक्षक को ही दें ।"—एक कर्मचारी ने विनम्र हो निवेदन किया । उसे इस साधारण सी वेशभूषा में अपने समक्ष खड़े इस आगन्तुक में किसी अदृश्य असाधारण प्रतिभा के दर्शन हो रहे थे । और उसी प्रतिभा से प्रभावित हुए द्वार-रक्षक ने आगन्तुक कवि को एक राज्यकर्मचारी के साथ सादर गढ़रक्षक के समीप पहुँचाया ।

गढ़रक्षक भी कवि की प्रतिभा एवं वाक्यचातुरी पर प्रभावित हुआ । कवि के प्रखर नेत्र और सौम्य मुख-मुद्रा में यह एक अद्‌भुत विशेष विलक्षण गुण था—जो कोई भी उनको, उनके ज्योतिर्मय मुख को देखता, तो उनके व्यक्तित्व पर प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था ।

गढ़-रक्षक ने देखा; कवि के पुष्ट कन्धों तक लटक रहे कृष्ण कुन्तल-समूह, दिव्य-गोल-विशाल चक्षु, तीखी नासिका, ऊँचा भव्य ललाट, अरुण कपोल, और पद्‌म-पुष्प-से अधर—सौन्दर्य के सामंजस्य से अलंकृत कवि का मुख देख गढ़-रक्षक एक क्षण भर के लिए थकित हो गया ।

सौन्दर्य की साकार प्रतिमा कवि का उसने, आगत कह आतिथ्य-सत्कार किया एवं यह वचन देकर कि कल वह विदिशा-नरेश से उनकी भेंट करवाएगा । आग्रह कर एक रात्रि के लिए अपने यहाँ आतिथ्य में ठहरा लिया ।

## ३३

# भागभद्र की राज्य-सभा

ताम्रवर्ण पर्वत-मालाओं में घिरी "शुंगों" की राजकीय नगरी विदिशा मालव ही नहीं, अपितु आर्यावर्त में अपना विशेष स्थान रखती थी। मौर्य सम्राट अशोक का श्वसुर-गृह होने से, इसका ऐतिहासिक महत्व है। शुंगकाल में पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने इसे सँवारा था। आज इसी नगरी के सम्राट भागभद्र हैं।

इनके राज्यकाल में पौराणिक नगरी विदिशा और भी उन्नत हुई। ग्रीक-दूत "हेलियोडोरस" ने भागभद्र के प्रभाव से यहाँ वैष्णव-धर्म स्वीकार कर यहीं एक वैष्णव-मन्दिर एवं गरुड़-स्तम्भ स्थापित किया। इस घटना ने विदिशा के गौरव में स्वर्ण में सुगन्ध-सा काम किया। वैष्णव-धर्म-प्रवर्तक भागभद्र की तथा विदिशा की कीर्ति सुदूर तक विस्तारित होने लगी।

समय बढ़ता चला गया। सम्राट अब वृद्ध हो चुके थे। दुर्भाग्य से भागभद्र को कोई पुत्र नहीं था। यही कारण था कि सम्राट भागभद्र अपने स्वर्गीय भ्रातृ-पुत्र देवभूति को बहुत स्नेह से रखते थे। देवभूति कुमार था, तेजस्वी था, सुन्दर था। साथ-साथ उसके मुख पर स्पष्टतः राज्यचिन्ह

परिलक्षित होते थे। जिस समय अवन्तिका शकों से आतंकित था तभी से कुमार देवहूति को भागभद्र ने तक्षशिला के विद्यालय में विद्योपार्जन हेतु भेज दिया था।

× × × ×

नगर के मध्य में विदिशा-सम्राट भागभद्र ने राज-कार्य हेतु सभागार का निर्माण किया था। अनेक ताम्र-वर्ण कलांकित स्तम्भ सभागार के आधार थे। सभागार का प्रकोष्ठ विशाल वृत्ताकार था। सभा के मध्य सम्राट के लिए कलाङ्कित उच्चासन था, जिसपर चित्रित चित्रों का स्पष्टतः चित्रण करना असम्भव-सा है। सभागार में थोड़ी-थोड़ी ही दूर पर विशाल पीत-दीपस्तम्भ खड़े थे। छत पर रेशमी-रज्जु के सहारे नीचे उतारे और चढ़ाए जाने की व्यवस्था से कलाङ्कृत दीपमालाएँ थीं जिनकी निचली कोरों में असंख्य मणि-मुक्ता जगमगाते अपने विभिन्न रंगों से वातावरण को रंगीन किए रहते थे। नीचगिरि की नर्तकियों द्वारा सांस्कृतिक आयोजन यहीं मनाए जाते थे। इसीलिए यहाँ सभी प्रकार की सुविधाएँ थीं—यहीं सम्राट के उच्चासन के सम्मुख एक रंगमंच भी था।

आज इसी भव्य सभागार में विशाल जनसमुदाय जुड़ रहा था, सर्वत्र कोलाहल ही कोलाहल गुंजित हो रहा था। प्रमुख द्वार पर रथ आ-आकर रुक रहे थे। रथ से उतर प्रतिष्ठित व्यक्ति परस्पर मिलते सभागार में उपस्थित होते जा रहे थे।

सम्राट भागभद्र का आज जन्म-दिवस था। सम्राट आज अस्सी वर्ष की आयु को त्याग इक्यासी वर्ष में प्रवेश कर रहे थे। नगर में हर्ष छा रहा था। अनेक प्रकार से उत्सवादि रीतियों द्वारा नागरिकगण सम्राट भागभद्र की चिर आयु होने की मंगल-कामना कर रहे थे।

राज्य-सभा में हर्षोल्लास छा रहा था। सभागार आज विशेष रूप से सजाया गया था। सभा का समय हुआ और सभा के सम्मुख अनेक सेवक और सेविकाओं से रक्षित एक दिव्य रथ आकर रुका। रथ से उतर

ज्योतिर्मुख वयोवृद्ध सम्राट भागभद्र सभागार में आए। अनेक मांगलिक ध्वनियाँ द्वार पर हुई । जयघोष के साथ सभासदों ने अपने सम्राट का अभिनन्दन व्यक्त किया ।

सभी पर प्रिय दृष्टि डालकर सम्राट भागभद्र नवीन परिधानों से सज्जित उच्च आसन पर आसीन हुए। नाना प्रकार के मंगलोपहार सम्राट के जन्म-दिवस के उपलक्ष में अर्पित किए गए। और सम्राट ने सभी के उपहारों को स्वीकार कर अभिनन्दन व्यक्त किया ।

अक्सर शुभ अवसरों पर दार्शनिक विवाद छिड़ ही जाते हैं, आज नागरिकों ने अपने स्नेह की अत्यन्त वर्षा ही की थी। इसी से प्रेरित हो सम्राट ने आज एक प्रश्न रखा । वे एक श्रेष्ठ से बोले—

"आप सभी ने मुझे अपने पवित्र प्रेम और स्नेह से अत्यन्त ही अभिभूत बना दिया है; परन्तु यह जनसाधारण के व्यवहार में आनेवाली अदृश्य अलौकिक शक्ति "प्रीति" है क्या ? इसके सम्बन्ध में आपका क्या मन्तव्य है !"

श्रेष्ठ ने उठ अपना मत प्रकट किया। बोला—"नरश्रेष्ठ ! अन्तःकरण से अन्तःकरण के भावों का मिल जाना ही प्रीति है। और यही उल्लेख हमारे धार्मिक-दार्शनिक ग्रन्थों में भी है ।"

एक ने कहा—

"हाँ, जिस भावना में स्वार्थ न हो, भक्ति हो, उसी भावना को प्राचीनकाल में स्नेह सम्बोधित किया गया है ।"

इस पर एक श्रेष्ठ ने उठकर कहा—

"क्या प्रीति एक आकर्षण नहीं ? प्रीति एक आकर्षण है, तभी तो प्राणिमात्र इस पर आकृष्ट है ।"

सभी ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए। गढ़-रक्षक के निकट बैठे कवि कालिदास सभी के तर्कों को सुन लेने के अनन्तर अपने स्थान से उठे और बोले—

"विदिशाधिपति ! आज्ञा हो, तो मैं भी इस विषय पर प्रकाश डालूँ ?"

वीणा के स्वरों-सी प्रकम्पन करती संगीतमय सुमधुर वाणी से प्रेरित हो सभी ने देखा—शुभ्र कौशेय वस्त्रों से आवेष्ठित लम्ब-गौरवर्ण, सुडौल शरीर, पुष्ट स्कन्ध तथा चौड़ी छाती वाले तरुण प्रतिभावान व्यक्ति की वह सुमधुर कण्ठ-ध्वनि थी। जिसके कुन्तल केश कन्धे तक झूलकर लहरा रहे थे। मुख पर अलौकिक दिव्य प्रकाश था।

सभी की दृष्टि कवि कालिदास पर केन्द्रित हो गई। सौम्य मुख-मुद्रा से प्रभावित हो विदिशा-नरेश भागभद्र बोले—

"हाँ, हाँ, विद्वन् ! आप भी अपना योग्य अभिमत कहिए।"

कवि बोले—

"आयुष्मन् ! आपका योग्य प्रश्न था, "प्रीति क्या है ? जिसका सभी अनुभव करते हैं प्राणिमात्र के साथ उसका गहरा सम्बन्ध है, प्रभाव है, परन्तु वास्तव में वह क्या है ? सभी भिज्ञ होकर भी अनभिज्ञ हैं। एक विद्वान् श्रेष्ठी ने अभी एक योग्य तर्क भी दिया था, अन्तःकरण के भावों का मिल जाना ही प्रीति है। ऐसे ही यह भी सुनने में आया था कि स्वार्थ-रहित भावना ही प्रीति है ! और ऐसा सभी मानते हैं ?"

—कवि कुछ रुके और अपनी गम्भीर प्रश्नसूचक दृष्टि सभी सभा-सजनों पर पसारी।

"फिर आपके विचार में प्रीति क्या है ?"

—सम्राट ने मुस्करा कर पूछा।

एक बार सभी लब्ध-प्रतिष्ठित सभा-सजनों की ओर अपनी रहस्यमय दृष्टि घुमाकर कवि ने देखा और बोले—

"मेरे तर्क में 'प्रीति' एक स्वार्थ है। वह भी कोई तुच्छ या लघु नहीं, अपितु महान है ! स्वार्थ के बिना एक दूसरे पर प्रभावित होना असम्भव है। स्वार्थ का सामंजस्य ही प्रीति है। स्वार्थ विश्वव्यापी एक

महान शक्ति है और इसी शक्ति से अभिभूत हो मनुष्य एक दूसरे से बँधता है और इसी पर सृष्टि निर्भर है। इसी हृदयस्पर्शी स्वार्थ को प्राचीन दार्शनिक ऋषि-मुनियों ने 'प्रीति,' 'स्नेह', 'प्रेम' आदि नामों से सम्बोधित कर दिया होगा—यही मेरा एक तर्क है। इसे आप सभी अपनी-अपनी बुद्धि-कसौटी पर चढ़ाकर परखें।"

—और कवि मौन हुए।

"स्वार्थ पर ही सृष्टि निर्भर है, यह कैसे!"

—एक ने पूछा।

"मनुष्य में प्रारम्भ में "चाहना प्रत्युत्पन्न हुई और उसी के साथ स्वार्थ और स्वार्थ से सृष्टि; क्योंकि स्वार्थ से ही संयोग बना और संयोग से सृष्टि !!"

"साधु-साधु !" वयोवृद्ध सम्राट मुस्कराए—"और वही स्वार्थमय संयोग का कारण बना। निःसन्देह प्रीति में अदृश्य स्वार्थ समावेशित है !"

स्वयं विदिशा-नरेश भागभद्र ने कवि के तर्क का समर्थन किया। सभी सहमत हुए। सभागार में बैठे नागरिक-गण पर्याप्त समय तक नव-आगन्तुक कवि की एवं उनके अभिमत की प्रशंसा करने लगे।

भागभद्र प्रभावित-से हुए और उन्होंने कवि से पूछा—

"विद्वन्! आप कहाँ के निवासी हैं? आपका शिष्टाचार एवं सम्भाषण आपको विदिशा-वासी प्रमाणित नहीं करता।"

सत्य है नरेन्द्र! मैं विदिशा-वासी नहीं अवन्ती-वासी हूँ।"

"धन्य हैं आप! स्वयं प्रतिभा ही आपको अवन्तीवासी प्रमाणित करती है। अवन्ती विद्वानों का सामंजस्यागार है!"

सम्राट प्रसन्न हुए। कवि मुस्कराए भर। "विद्वन्! आपका शुभ नाम?"

सम्राट ने पूछा। उनके दिव्यचक्षु कवि के निर्मल नेत्रों से मिले। तेजःपुञ्ज विदिशा-नरेश भागभद्र से आज कवि अपना परिचय नहीं छिपा

सके। अनेक दिनों से छिपाए अपने रहस्य को कवि विदिशा में उगल गए। बोले—

"आयुष्मन् ! मेरा नाम कालिदास है और यही पूर्ण परिचय भी !"

एक बार पुनः सभी की दृष्टि कवि पर केन्द्रित हुई। सम्राट आश्चर्य-विस्मित हो बोले—

"आप ही कवि कालिदास हैं ! ऋतुसंहार के रचयिता, मालवेन्द्र के जामाता ?"

आसन त्याग सम्राट ने कवि का सम्मान किया एवं अपने संनिकट बैठाया। बोले—

"निश्चय ही आज विदिशा धन्य हुई।"

# ३४

## रहस्यमय-चर्चा

सभा भंग हो जाने के अनन्तर विदिशा-नरेश भागभद्र कवि को अपने प्रासाद में ले आए। वह बार-बार प्रसन्न होते हुए कवि से अनेक विषयों पर पर्याप्त समय तक चर्चाएँ करते रहे। अन्य विषयों पर चर्चा हो जाने के उपरान्त सहसा भागभद्र कवि से बोले—

"हम आपसे एक प्रश्न पूछें, कविवर !" "अवश्य ही, आयुष्मन् !" कवि ने कहा—"आप तो अधिकार रखते हैं। मैं आपके प्रश्नों का उत्तर मति अनुसार देने का प्रयास करूँगा।"

"धन्य !" खुलकर हँसने से वृद्ध सम्राट के चक्षुओं के आस पास बहुत सी बारीक रेखाएँ बनीं। वे बोले—

"कुमारी प्रियंगुमंजरी के साधारण से व्यवहार को लेकर आपने पुण्य-भू अवन्ती क्यों त्याग दी ?"

कवि के चक्षु सम्राट के चक्षुओं में मिलकर विस्मत-से रह गए। हृदय ने अनेक धड़कनें लीं। विदिशा-नरेश को यह गोपनीय रहस्य कैसे ज्ञात......कविवर विचार में खोए।

कवि के विचार-विचलित मुख को देख भागभद्र कुछ मुस्कराए और बोले—

कविश्रेष्ठ ! आप विचलित न होवें, यह रहस्य गोप्य ही है, कहीं, प्रकट नहीं। आपके उज्जयिनी त्यागने के एक दो दिवस उपरान्त ही मालवेन्द्र अवन्तिका में आए। उन्हें जब यह व्यथाजनक समाचार ज्ञात हुआ, तो वे अत्यन्त ही दुखित हो उठे। यही दशा आचार्य वररुचिजी की भी रही। वे तो मूर्छित होते-होते बचे, एक सेवक ने उन्हें सम्हाला। वस्तुस्थिति पूर्ण ज्ञात हो जाने पर उसी समय प्रासाद में जाकर उन्होंने कुमारी प्रियगुमंजरी को डाँटा। यह आचार्य का प्रथम ही अवसर था जब कि उन्होंने प्रत्यक्ष में जाकर कुमारी की भर्त्सना की। मालवेन्द्र हत-प्रभ से हो गए थे, वहीं आचार्य वराहमिहर एवं योगिराज बैतालभट्ट भी उपस्थित थे। सभी ने यही मन्त्रणा दी कि अब इस रहस्य को गोप्य ही रखा जावे और यह विस्तारित कर दिया जाय कि किसी नवीन ग्रन्थ निर्माण हेतु कवि भ्रमणार्थ गये हुए हैं। साथ ही प्रच्छन्न रूप से आर्यावर्त में सभी जगह कवि की खोज हेतु गूढ़ पुरुष भेज दिए जायँ। और इसी प्रकार इस रहस्य को गोप्य रखा जाकर समस्त भारतवर्ष में आपको खोजने हेतु प्रच्छन्न पुरुष भेज दिये गये।" सम्राट रुक कर कुछ मुस्कराए और बोले—"एक लम्बी अवधि हुई आप कहीं भी नहीं मिल पाए। आश्चर्य ! मिले तो मुझ भाग्यवान के नगर में ही !! आपके दर्शन की मुझे भी तीव्र उत्कण्ठा थी, वह ईश्वर ने पूर्ण की। अब जब तक आपका मन रुचे आप यहीं विदिशा में हमारे तुच्छ से आतिथ्य में रहें। फिर आपको समादरपूर्वक उज्जयिनी भेज दिया जाएगा।"

कवि इस बात पर मुस्कराकर बोले—

"राजेश्वर ! आप मेरे सम्बन्ध में एक लघु कथा बना गए।"

"क्या अभिप्राय ?"

"अभी आपने कहा था कि मालवेन्द्र ने इस रहस्य को गोपनीय

बनाया है—आचार्य मूर्छित होते-होते बचे, एक सेवक ने उन्हें सम्हाला, आचार्य ने प्रियंगुमञ्जरी के समक्ष जाकर प्रत्यक्ष में उसकी भर्त्सना की—यह सब तथ्य ऐसे हैं, जैसे प्रत्यक्ष में निज चक्षु देखा चित्रण ! जब मालवेन्द्र ने मेरे रहस्य को गोप्य ही बनाया है, तो ये सूक्ष्म बातें आप को कैसे ज्ञात हो गईं ?"

'सम्राट भागभद्र मुस्कराए और बोले—"महात्मन् ! मैं प्रथम ही कह चुका हूँ कि आपसे सम्बन्धित समस्त रहस्य मुझे पूर्ण-रूपेण ज्ञात हो चुका है।"

"कैसे ?" कवि ने व्यंग किया—"सम्भवतः आपके गुप्तचर प्रच्छन्न-रूप से मालवेन्द्र के हर्म्य में हैं।"

"नहीं !" सम्राट भी मुस्कराए—"किन्तु मालवेन्द्र के गुप्तचर मेरे अन्तःपुर में अवश्य है।"

"यह तो विचित्र बात है !" कवि आश्चर्य-विस्मित हो बोले—"भला मालवेन्द्र के गुप्तचर आपके यहाँ क्योंकर आए ?"

आपको खोजने हेतु ! शंकास्पद समाचार पाकर अभी-अभी ही एक-दो दिवस पूर्व ही मेरे हर्म्य में एक स्त्री-चर अवन्ती से आई है। अपने आपको मालविका कहती है और उसी ने आपसे सम्बन्धित समस्त रहस्य मुझे बताया है। वह स्वतः रो भी रही थी, उसका कथन है—आपने उसी के कारण प्रासाद त्यागा।"

"वह मालविका कौन है, मैं उससे मिलना चाहता हूँ।" कवि के मन में शंका उत्पन्न हुई—इतना सब रहस्य देनेवाली प्रियं के अतिरिक्त और कौन हो सकती है ? कहीं प्रियं ही तो नहीं...। और कवि के नेत्र कुछ भीगे।

सम्राट हँसे और बोले—

"अवश्य-अवश्य !"

और एक दासी को उन्होंने आदेश दिया कि कवि को मालविका के कक्ष में ले जावें।

## ३५

## मालविका

जब दासियाँ कवि को मालविका के कक्ष में ले गईं, तो द्वार पर से ही कवि ने देखा कि मालविका कोई और नहीं थी। मालविका के रूप में थी, विदिशा की राज्य-सेविकाओं के मध्य घिरी मेनका।

कुछ क्षण तक कवि द्वार पर ही खड़े उसे निहारते रहे, कवि के नेत्रों में मोती के सदृश अश्रु-बून्दें छलक आई थीं। मेनका ने सहसा दर्पण में कवि का प्रतिबिम्ब देखा और वह हतप्रभ-सी हो उठ खड़ी हुई।

कवि आगे बढ़े—"मेनका! तुम...!"

"हाँ, कविवर! मैं...।"

—मेनका के मस्तिष्क में भयंकर भूचाल आन्दोलित हुआ। वह अपने आपको सम्हाल नहीं सकी और वहीं कवि के वक्ष से लिपट निश्चल हो गई। कवि हतप्रभ हुए, उन्होंने निश्चल मेनका को समीप ही पर्यंङ्क पर लिटाया। दासियों ने जल का पात्र लाकर दिया। कवि ने मेनका के मुख पर छिड़का।

एक दासी बोली—

"महोदय ! सम्राट को सूचना दें ?"

"नहीं, कोई आवश्यकता नहीं, यह अत्यन्त कोमल हृदया है। सह्य शक्ति कम है, इसी से मूर्छित हो गई है। तुम कक्ष के बाहर ही रहो—वह स्वस्थ है।"

दासियाँ कोष्ठक के बाहर हो गई। कवि ने मेनका की ओर गौर से देखा—उसका मुख पीला पड़ चुका था। वह पहिले से कहीं अधिक दुर्बल हो चुकी थी। कुछ समय पश्चात् मेनका ने पलकें खोलीं। कवि ने पूछा—

"मेनका ? तुम मूर्छित हो गई थी एँ ?'

मेनका उठने को हुई। कवि ने हटकर पुनः लिटा दिया। कहा—"तुम यहाँ क्यों आई थी ? वह भी इस वेष में !"

मेनका प्रत्युत्तर न दे सकी। वह रो उठी, मानों वर्षों का रुका पानी बांध तोड़कर फूट चला।

"रोती क्यों हो पगली !'

—कवि ने मेनका के मस्तक पर स्नेहयुक्त कर फेरा। मेनका के नेत्रों से और भी द्रुत गति से अश्रु प्रवाहित होने लगे। कवि विचलित हुए, मेनका को समीप कर कहा—"पगली ! रोती क्यों है ?

मेनका के नथने फूले, अधर खुले; साहस कर वह बोली—

"आप हर्म्य त्यागकर बिना मिले ही ऐसे क्यों चले आए। मुझ अभागिन के कारण आपको यह सब कष्ट सहने पड़े।"

मेनका पुनः कवि के विशाल वक्ष में समाकर अपने हृदय का करुण नीर नेत्रों द्वारा ढरकाने लगी। कवि ने मेनका से अधिक प्रश्न करना निरर्थक समझा, वे मौन रहे। पर्याप्त समय तक मेनका कवि के वक्ष से टिकी रोती रही और रोते-रोते ही वह हिचकियाँ भी भरने लगी।

कवि के हृदय में करुण-कल्पना उठी—जब मेनका की यह दशा है,

तो प्रिय की क्या होगी ? और कवि के नेत्रों से भी ढलक कर गरम अश्रु वक्षस्थल पर टिकी मेनका की गर्दन पर टपके।

मेनका ने साहस कर मुख उठा कवि के मुख पर दृष्टि पसारी—

"अहो कविवर ! आप रो रहे हैं ?"

"बावरी ! तू भी तो रो रही है !"

प्रकंपित गिरा से कवि ने कहा और न जाने कब तक दोनों मौन बैठे कोष्ठक में नीर बहाते रहे।

# ३६

## प्रियंगुमंजरी के समाचार

पूर्ण स्वस्थ हो जाने पर मेनका ने कवि को प्रियंगुमंजरी के सभी समाचार कह सुनाए। वह कहने लगी—"श्रीमान्! आपका नाम स्मरण हो आने पर ही वह दिन में अनेकों बार निश्चल हो जाती हैं और इसी कारण बहुत दुर्बल हो चुकी हैं। सब अलंकार भी त्याग साधुनी-सा वेष बना लिया है।...

"मेनका, बस अधिक न कहो!" कवि गम्भीर हुए। पर्याप्त समय तक वे मौन बैठे न जाने क्या-क्या सोचते रहे। सहसा उन्होंने मेनका से कहा—"मेनका! निश्चय ही प्रियं बहुत भोली है!"

"फिर आप उस पर क्यों रुष्ट हैं?"

"रुष्ट कहाँ बावरी? स्नेह में रुष्टता का सम्बन्ध नहीं आता।"

"फिर आप ऐसे क्यों चले आए!"

कवि पुनः गम्भीर हुए—

"मेरे कारण जो तुम्हें, तुम पवित्र को व्यर्थ के आक्षेप लगे उन्हीं का मैं प्रायश्चित्त ले रहा हूँ।...तुम्हारे प्रति प्रियं के हृदय में जो विकार थे, वे धुले या नहीं?"

"आपने ही तो कहा था श्रीमान् कि उसके हृदय का पार स्वतः विधि भी संभवतः नहीं पाते होंगे।...कुमारी भोली है, वह मुझे तनिक भी नहीं त्यागती। विह्वल हो क्षण-प्रतिक्षण मुझसे क्षमा-याचना करती है, मैं यहाँ हूँ, कुमारी की वहाँ क्या दशा होगी, ईश्वर ही जाने...। जब आप हर्म्य त्याग बाहर आ गये थे, तब वह वहीं निश्चल हो चुकी थी। आपको भी विचित्र वेष में प्रासाद के बाहर जाते हुए दासियों ने देखा था—शंका सभी को हुई; परन्तु कोई साहस कर कुमारी के कक्ष में नहीं जा सकी। बहुत रात्रि चढ़े तक जब कुमारी कक्ष के बाहर नहीं निकली, तो भयभीत दासियों ने मुझे बुलाया। मैं कोष्ठक में गई, तो देखा—कुमारी कालीन पर मूर्छित पड़ी थी। उस रात्रि कुमारी एक दीर्घ समय पश्चात् सुध में आ सकी। कुछ दिनों के उपरान्त मालवेन्द्र भी कलिंग-यात्रा से लौट आए। मैंने ही इस दुःखद समाचार को न जाने किस हृदय को रखकर उन्हें सुनाया। सम्राट भी जड़वत् हो गए, एक घड़ी तक उनके मुख से कुछ बोल भी न फूट पड़ा। आचार्य वररुचिजी के नेत्रों में मैंने उस दिन प्रथम बार अश्रु देखे, वे मूर्छित होते-होते बचे, एक सेवक ने उन्हें सम्हाला। और सहसा उनके चक्षु तन गए, भृकुटी बार-बार वक्र होने लगी, वे गर्जे—'प्रियं कहाँ है?" मैंने ही साहस कर कहा—"कोष्ठक में है।"

आचार्य लम्बे-लम्बे डग भरते हुए कुमारी के कोष्ठक में गए। क्रोध से उनका अंग-अंग थिरक रहा था। मार्ग में ही उनकी "शाल" कन्धे पर से रलक कर पृथ्वी पर गिर पड़ी; आवेश में उन्हें पता नहीं चला। वे सीधे कुमारी प्रियंगुमंजरी के कोष्ठक में गए। मैं भी पीछे-पीछे कक्ष तक गई। कक्ष के बाहर से ही मैंने सुना—आचार्य कुमारी की भर्त्सना कर रहे थे—अनेक कटु शब्द कह आचार्य ने कुमारी को फटकारा।

और उसी क्षण जब आचार्य-प्रवर ने घबड़ाई-सी ध्वनि में पुकारा—

..."मेनका...मेनका...मधुमंजरी !!!" तो मैं तत्काल दौड़कर कोष्ठक में गई। देखा—आचार्य कालीन पर बैठे थे, उनका मुख स्वेद-बिन्दुओं से सराबोर हो रहा था। उनकी गोद में निश्चल कुमारी थी और टपक रहे थे कुमारी के मुख पर आचार्य के निर्मल नेत्रों से नितर रहे अविराम अश्रु...!

कहते ही कहते मेनका का उच्च-वक्ष थम्भन के समान उठने-गिरने लगा। नथने भी वायु-वेग के कारण फूलने लगे, मेनका का कण्ठ काँप उठा था; वह रो पड़ी।

कालिदास ने यह सब वृत्तान्त कठोर हृदय करके सुना और उनके विशाल गम्भीर नेत्रों के कोनों में अश्रु-मोती छलक आए। मस्तिष्क ने अनेक तूफानी हिलोरें लेना आरम्भ कर दिया और ओठ अस्पष्टतः फुस-फुसाए—

"आचार्य...सम्राट...प्रियं...!"

आयुष्मन्! अवन्ती चलोगे न?"

—मेनका के हृदय में आशा का संचार हुआ।

"नहीं मेनका!"

"यह क्यों?" मेनका विचलित हुई।

"मेनका! जब मैं उज्जयिनी से चला था, एक महान प्रण कर चुका हूँ और उस प्रण को सफलीभूत करना मेरा उद्देश्य है।"

"कैसा प्रण, श्रीमन्?"

"बावरी सत्य-प्रण गोप्य ही रहता है। वह किसी को बतलाया नहीं जाता, वह तो आत्मा का संकल्प है! पूर्ण होते ही मैं अवन्ती आ जाऊँगा। अवन्ती मेरी है और मैं अवन्तिका का!"

"कुमारी का क्या होगा?"

—मेनका के ओठ अस्पष्टतः बोले और नेत्र हुए अश्रुयुक्त।

"वही जो मेरा।" और कवि पुनः गम्भीर हो बोले—"मैं जब

अवन्ती में आऊँगा उस समय मेरे हाथों में प्रियं के लिए एक नवीन ग्रन्थ होगा ! प्रियं और मेरा प्रायश्चित्त, वियोग, विछोह सभी उसी में पिरो दूँगा !"

मेनका व्यथित हो उठी ।

"मेनका ! तू कब तक यहाँ रहेगी ?"

—कवि ने पूछा ।

"जब तक कविवर आज्ञा देंगे ।"

"तू जा । प्रातः ही जा, प्रियं चिन्तित होगी; परन्तु स्मरण रख, उसे यह न कहना कि मैं यहाँ हूँ !"

"आयुष्मन् ! इतनी कठिन कसौटी पर न, सानिए ।"

—और व्यथित मेनका के नेत्रों ने पुनः ओस-कण के समान अश्रु झरा दिए ।

"मेनका ! पगली न बन—मैं शीघ्र ही आऊँगा ।"

मेनका सम्हल कर बोली—

"यहाँ आप कब तक हैं ?"

"निश्चित नहीं । सम्भवतः प्रातः ही कहीं चल दूँ, रह भी जाऊँ; तू कल जा !"

"जैसी आपकी आज्ञा !"

—मेनका ने बड़ी कठिनाई से अपने आप पर नियंत्रण किया ।

# ३७

## विदिशा की ओर से

प्रातः जब कवि उठे, मेनका पार्श्व में जल का पात्र लिए उनके पर्यङ्क के समीप खड़ी थी।

"मेनका यह क्या ?"

"श्रीमान् ! जल।"

"यहाँ भी तूने यह पागलपन न त्यागा !"

"मैं आपकी सेविका जो हूँ !"

"सेविका नहीं बावरी, भगिनी !"

"कविवर।..."

—मेनका के करुण नेत्रों में से पुनः करुणा मुक्ता बिखर पड़े।

"मेनका ! तू ऐसे मेरे लक्ष्य को शिथिल न बना।" कवि भी स्वयं विचलित हो उठे थे। अपने आप पर नियंत्रण कर बोले—"आज तुझे जाना है न ?"

कवि ने मेनका के अश्रु पोंछ दिए। मेनका अनबोली-सी खड़ी कवि के न जाने कितने भावों को छिपाए गंभीर-मूक नेत्रों में देखती रही !

सहसा वयोवृद्ध सम्राट भागभद्र कोष्ठक में आये। बोले—

"कविवर ! प्रणाम !!"

"प्रणाम आयुष्मन् !"—कवि ने उठ वृद्ध सम्राट का अभिनन्दन किया।

सम्राट के मुख पर आज हर्ष-ही-हर्ष परिलक्षित हो रहा था। वे बोले—

"कविवर ! निःसन्देह आपके आगमन ने हमें ही नहीं, अपितु समूचे विदिशा में नागरिकों के हृदय में आनन्दामृत छिड़क दिया है। आज अभी नगर के कुछ प्रतिनिधि श्रेष्ठियों ने हमें आकर यह कहा कि वे सभी आगमन के इस शुभ अवसर पर अपने हार्दिक अभिनन्दन के रूप में एक समारोह आयोजित करना चाहते हैं...!"

"यह व्यर्थ का कष्ट क्यों, देव !"

"कष्ट नहीं कविवर, कर्त्तव्य !" सम्राट प्रेम-पुलकित हो बोले—"नीच-गिरि की नर्तकियाँ आपको अपनी कला-सेवा अर्पित करना चाहती हैं। मेरे आग्रह का आप भले ही अस्वीकृत कर दें, परन्तु प्रजा के इस आग्रह का मान तो करना ही होगा ... म और हमारी प्रजा की तो यह हार्दिक अभिलाषा है कि आप सदैव हमारे मध्य ही बने रहें...।"

"आयुष्मन् ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है; यहाँ रह जाने पर मुझे पुनः उज्जयिनी बुला लिया जायेगा। यही मुझे भय है !"

उज्जयिनी तो आपकी है ही। सम्राट पुनः मुस्कराए—"वहाँ आपको अवश्य ही जाना होगा...।"

नहीं, आयुष्मन् ! मुझे अभी उज्जयिनी नहीं जाना है।"

"ऐसा क्यों ?"

"यह रहस्य है और उसे मैंने गोप्य ही रखा है।"

"हम आपको बाध्य भी नहीं करते।"

सम्राट मुस्कराए—"परन्तु विदिशा भी आपको सहज में मुक्त नहीं करेगी। अब आप हमारे स्नेह के बन्दी हैं !"

"परन्तु आयुष्मन्, मेनका का आज ही जाना उपयुक्त है। इसकी अवन्तिका में अत्यन्त आवश्यकता है।"

"मेनका कौन ?"

—सम्राट नहीं पहिचानते।

"आपकी मालविका !" कवि कुछ हँसे—मालविका नाम से तो आप भलीभाँति परिचित होंगे—स्वर्गीय सम्राट अग्निमित्र के हर्म्य में भी अवन्तिका से एक मालविका आई थी।...और आज पुनः मेनका मालविका बनकर विदिशा में हमें खोजने आ गई।"

—कवि मुस्कराए। उनके चक्षु पार्श्व में नत-मस्तक खड़ी मेनका पर टिके। वह मुस्करा रही थी!

निश्चय ही यह प्रखर बुद्धि की है!"

भागभद्र भी मुस्कराए—"परन्तु आज यह भी नहीं जा सकती, आज का सम्मान विदिशा इन्हें भी देगी!"

कवि को समर्थन करना ही पड़ा। मेनका का हृदय आज अत्यन्त प्रसन्न था; परन्तु अपने इस सम्राट के बढ़ावे पर नहीं! था प्रसन्न मन उसका कवि को प्राप्त हो रहे विदिशा के इस भव्य सम्मान से!

# ३८

## नृत्य-नाट्य

स्वच्छन्द हेमन्त की रात्रि में सम्राट भागभद्र के सभागार की नाट्-शाला दीपशिखाओं के आलोक से प्रकाशित हो रही थी। सभागार की नाट्यशाला के मञ्च पर बहुमूल्य रत्नों से जड़े हुए आवरण झूल रहे थे। दीपस्तम्भों पर दीप जले, छत पर लगी लटक रही दीप-मालिकाएँ ज्योतिर्मय हो उठीं जिनमें जड़े रत्न जुगनू के सदृश वायु-संचार से दीप्त होते और चमचमाते थे।

बृहद्-सभागार जनसमुदाय से परिपूर्ण हो गया। नगर के नागरिकगण एवं मान्यता प्राप्त प्रतिष्ठित सज्जन निर्धारित समय पर उपस्थित हो गए। निश्चित समय होते ही सम्राट भागभद्र कवि कालिदास को लेकर सभागार में उपस्थित हुए—उनके पीछे-पीछे मेनका अवनीतल मुख किए चल रही थी।

प्रज्ज्वलित दीप-स्तम्भों के आलोक में दर्शकों ने देखा—विदिशा के तेजस्वी सम्राट के पीछे-पीछे स्वतः सौन्दर्य साकार बन चला आ रहा था।

अभिनन्दन के लिए सभी नत-मस्तक खड़े थे। अभिवादन का प्रत्युत्तर देते हुए कवि एवं सम्राट उच्च-नवीन-आवरणों से आवेष्ठित असन्दी पर आसीन हुए। पार्श्व में ही मेनका को भी सम्राट ने सादर बैठाया।

जयघोष से एक क्षण कलाभवन गूँजा, कवि की प्रशस्ति में नगर-श्रेष्ठियों ने अपने-अपने हृदयोद्गार प्रकट किए, और सम्राट ने समर्थन।

तदनन्तर नृत्य नायिका ने सम्राट से आज्ञा ली और सुखद स्थल वाद्यों की सुमधुर सर्वप्रिय ध्वनियों से प्लावित हो उठा। मंच पर दीपस्तम्भों की "लौ" सहसा धीरे-धीरे स्तम्भों में समा गई और नाट्य मंच अन्धकार में विलीन हो गया। रात्रि के अन्धकार में तारों-सा जगमगाता "मंच-आवरण" 'आनन्द' की सुखद ध्वनि के साथ झिल-मिलाता हुआ सरका और छत पर से गोल कुण्डलाकार प्रकाश मंच के फर्श पर उतरा।

"छम...छम...!" पायल की कर्णप्रिय ध्वनि नीरव वातावरण में गूँजी और कुण्डलाकार प्रकाश में एक अभिराम रूपमती नर्तकी प्रकट हुई, जिसका आकर्षण दर्शकों को चन्द्र-सा शीतल प्रतीत हुआ। मानों सहसा दामिनी दमकी और द्युतिमान हुआ रंग-मंच। क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम...मंच पर कुण्डलाकार प्रकाश बने और पाँच नर्तकियाँ कुण्डलाकार प्रकाश में प्रकट हुईं। उनके लावण्य का नशा दर्शकों पर मदिरा-सा छाया और सभी स्तम्भित-से हो गए।

पाँचों नर्तकियों ने अपने कलानुशासित तन्व-गातों को मरोड़-मरोड़ कर नृत्य-मुद्रा में कवि एवं सम्राट का अभिवादन किया। अनेक वाद्य झनझना अनेक कर्णप्रिय स्वर आगार में प्लावित हुए। और पांचों की पाँचों नृत्य कौशला 'नीचगिरि' की मदभरी नर्तकियाँ थिरक-थिरक नृत्य करने में रत हो गईं। पुष्प के गजरों से सजे कोमल कर कौशेय-रज्जुका के समान बल खा रहे थे। विशाल नितम्ब गर्वीले नागराज के खुले फन के सदृश मन्थर गति से डोल रहे थे। चंचल पैरों की गति अवर्णनीय

थी, पृथ्वी पर पड़ते पैर मृदंग की ताल पर ऐसे उठते मानो रोहिणी से तपे पत्थर पर गर्मी के कारण न टिक रहे हों। नृत्य-निपुणा नर्तकियाँ विचित्र-विचित्र कौशल प्रदर्शन कर दर्शकों को मोह रही थीं।

नृत्य का 'सम' बन्धा और कवि वहीं कल्पनाबद्ध हो गए, उन्हें स्मरण हो आया—एक बार प्रियं ने भी सभी प्रकार के सुन्दर नृत्यों की मनोरम झाँकियाँ प्रासाद में उसे दिखाई थीं— कितना मनमोहक, सुखद नृत्य किया था उस रात्रि प्रियं ने...! कवि के चक्षु जल-मग्न हुए एवं उन्होंने वहीं नेत्रों को पलकों के आवरण में ले लिया।

नृत्य-समाप्ति पर जन-कोलाहल से कवि-चक्षु खुले—

"नृत्य कैसा रहा, कविवर !"—सम्राट ने पूछा।

"अति उत्तम !"

आयोजन विसर्जित हुआ और सम्राट, कवि एवं मेनका प्रासाद में आए। चर्चा चलने पर कवि सम्राट से बोले—

"आयुष्मन् ! ऐसे ही नृत्य नाट्यों को यदि ऐतिहासिक रूप दे दिए जायँ तो कैसा रहे ?"

"आपका अभिप्राय ?"

"आयुष्मन् ! अभिप्राय सरल है। छिपी हुई गाथाओं का शोध किया जाय और उसी को नृत्य-नाट्य में परिवर्तित किया जाय। यह मनोरंजन ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होगा !"

"साधु-साधु !" सम्राट मुस्कराए—"मैं आपसे ही प्रथमतः इस सम्बन्ध में आग्रह करूँगा कि आप ही किसी छिपी ऐतिहासिक गाथा को लेकर एक कवित्वमय नाट्य लिख दीजिए ! विदिशा के इतिहास से तो आप भलीभाँति परिचित हैं ही—कल ही आपने मालविका के सम्बन्ध में कहा था !"

—सम्राट मुस्कराए।

"मैं आपकी आज्ञा उल्लंघन करने की क्षमता नहीं रखता। मैं अवश्य ही प्रयास करूँगा।"

भागभद्र अत्यन्त प्रसन्न हो उठे थे। बोले—

"ईश्वर आपको विश्व के सर्वोच्च शिखर पर बैठाए! भास, पातंजलि से भी आप उच्च आसन पर आसीन होएँ!!" सम्राट अधिक भावुक बन गये थे। रात्रि अधिक बीती देख बोले—"अब आप शयन करें!"

"आयुष्मन्! प्रातः मेनका अवन्ती जायगी!"

—कवि ने स्मरण दिलाया।

"मुझे ज्ञात है!"

—सम्राट मुस्कराए और कवि को कोष्ठक में छोड़ आप अपने कक्ष में आ गए।

## ३९

## मेनका का अवन्ती-गमन

आज प्रातःकाल कवि बहुत ही शीघ्र उठे। मेनका को आज उज्जयिनी जाना था। कवि ने अँगड़ाई ले आलस्य त्यागा और उठकर सिर की दिशा में देखा, तो आज पुनः मेनका ओठों में मुस्कान और हाथ में जल का रजतपात्र लिए खड़ी थी।

कवि मुस्कराए और बोले—

"मेनका! तुम मेरे पूर्व जन्म की कौन हो?"

"ज्ञात नहीं।" मेनका मुस्कुराई—"कविवर! इसी जन्म का पूछें, तो मैं बताने में समर्थ हो सकूँ।" और मेनका मुस्कुराई। मुख से मानो मुक्ता बिखरे।

कवि मेनका के मुस्कराते मुख को एकटक निहारते रहे।

"मुझे आज अवन्ती जाना है न—श्रीमान्!"

कवि को अपनी ओर देखते देख मेनका बोली। और सहसा उसका कण्ठ आर्द्र हो उठा। नेत्र और अश्रु में संघर्ष छिड़ा, मेनका ने कवि के स्मित मुख को देख धैर्य धरा। कुछ क्षण तक मेनका और

कवि परस्पर चक्षु मिलाए एक दूसरे के भावों को पढ़ते रहे। अपलक... निर्निमेष...!

मज्जन कीजिए न!"—मेनका ही बोली।

"आज तो तू सभी सेवाएँ कर देगी, कल कौन करेगा?"

—कवि करुण हुए एवं मज्जन-कक्ष में चले गए।

लौटे तो देखा—सम्राट भागभद्र पर्यङ्क पर बैठे थे और मेनका उनके समीप खड़ी थी।

"प्रणाम, आयुष्मन्!"

—कवि ने सम्राट को प्रणाम किया। "प्रणाम, महात्मन्।"

सम्राट मुस्कराए। "आज तो आप सभी क्रियाओं से निवृत्त हो चुके हैं।"

"हाँ, देव!" कवि गम्भीर हुए—"मेनका आज जायगी न।"

"मैं भी मेनका के कारण ही आया हूँ, मिलने! रात्रि से ही सेवकों ने व्यवस्था कर दी थी, रथ द्वार पर तैयार है; कुछ तुरंगारूढ़ अंगरक्षक भी हैं। सकुशल मालव तक लौटाकर ही आएँगे।" और वयोवृद्ध, सम्राट ने स्नेह से मेनका के मस्तक पर हाथ फेरा। बोले—"पुत्रि! अब तुम जाओ, मालव-महिप को हमारा मंगलमय सन्देश देना और कहना—विदिशा एवं अवन्ती का सम्बन्ध सदैव स्नेहमय बना रहे, यही विदिशा के भागभद्र की हार्दिक कामना है।"

मेनका सम्राट के चरणों में झुकी। अश्रुयुक्त हो उठे उसके चञ्चल नेत्र।

कवि मेनका को लेकर रथ के निकट आए। रथ तैयार था, तुरंगारूढ़ अंग-रक्षक नग्न कृपाण लिए आगे खड़े थे।

कवि ने मेनका से कहा—"मेनका! स्वयंभू का नाम स्मरण कर शुभ विचारों को हृदय में लिए—तू जा!"

"जो आज्ञा श्रीमान्!"—मेनका के पल-पल में भीजनेवाले नेत्र अवनीतल हो गए और वाणी में आर्द्रता थी।

एक बार कवि ने निस्वार्थ सेविका मेनका को सम्पूर्ण दृष्टि से देखा और अपने क्षण-प्रतिक्षण उठ रहे अन्तस्तल के व्यथा-जनक जीवन पर नियन्त्रण करते हुए कवि ने कहा—

"मेनका ! रथ में बैठ जाओ। विलम्ब हो रहा है।"

—और कवि के निर्मम नेत्रों में हठात् अश्रु-मोती खेलने लगे। कवि ने दृष्टि नीची कर ली थी। मेनका रथ में बैठ गई।

"कुमारी से क्या कहूँ, श्रीमान् ?"

—प्रकम्पित गिरा से मेनका ने पूछा।

"मैंने जो तुम्हें प्रथम कहा था, वही। तू मेरी भगिनी है, तुझे समझाना कैसा। तू मेरे हित-अनहित को दृष्टिगत रख कार्य करना—बस !"

और कवि ने सारथी को संकेत किया। रथ आगे बढ़ चला।

मेनका की याचिका दृष्टि कवि के गंभीर नेत्रों से मिली—परस्पर अश्रु-प्रवाह हुआ। मेनका ने झरते नेत्रों को पसार मूक हाथ जोड़ कवि को प्रणाम किया।

"सुखी रह !"—कवि ने हाथ फैला आशीर्वाद दिया और कवि अपने अश्रुयुक्त नेत्रों को पसारे अपलक निर्निनेष भाव से देखते ही रहे... देखते ही रहे, मेनका के जाते रथ को—जब तक कि वह अन्तर्हित न हो गया।

# नाट्य-चर्चा

## ४०

उदास मुख लिए कवि प्रासाद में लौट आए। कोष्ठक में सम्राट भागभद्र कवि की ही प्रतीक्षा में बैठे हुए थे। कवि को आया देख बोले—"मेनका गई महात्मन् !"

"हाँ, आयुष्मन् गई !"

—गम्भीर हो कवि बोले। "कितनी सुशील है, वह बाला !" सम्राट भागभद्र भी गम्भीर हुए—"कुछ दिन अपना सामीप्य देकर वह मुझमें भी पिता-सा स्नेह उत्पन्न कर गई।" सम्राट भागभद्र के मुख पर गम्भीरता की एक गहरी रेखा खिंच आई। दोनों ही करुणा के गहरे सागर में विलीन होते चले जा रहे थे। विषयान्तर कर कवि बोले—

"आयुष्मन् ! वह ऐतिहासिक नाट्य !" कब तक पूर्ण हो जाना चाहिए ?

"यह आपकी मनोकामना पर निर्भर है, हाँ, यदि शीघ्र हो तो मैं भी उसे विदिशा के रंगमञ्च पर देखने का भागी हो सकूँगा। अब

न जाने क्यों मुझे अपने आप पर विश्वास नहीं है। कल ही सेविकाएँ कह रही थीं—मैं पर्यङ्क पर निन्द्रितावस्था में ही निश्चल हो गया था! अब आप ही कहें; ऐसे शरीर पर मैं कैसे विश्वास करूँ? न जाने कब खड़े ही खड़े काल...!"

"काल का अधिकार हो आपके शत्रु पर। आयुष्मन्! आप शत सहस्र वर्ष जीएँ!"

सम्राट मुस्कुराए—"ठीक है। आप अब यह कहें—नाट्य किस कथा पर आधारित होगा।"

"आयुष्मन्! स्वर्गीय सम्राट अग्निमित्र के जीवन के एक महत्त्वपूर्ण कथानक पर ही नाट्य रचने का मेरा विचार है। मालविका बनकर मेनका ने एक प्रकार से विदिशा के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पृष्ठ को हमारे सामने खोलकर रख दिया है। मेरे इस नाट्य का नाम भी "मालविकाग्नि मित्र" होगा। उसमें "मालविका" एवं स्वर्गीय विदिशा-नरेश "अग्निमित्र" के पवित्र सम्बन्ध को मैं प्रकाश में लाने का प्रयत्न करूँगा, जो कि विदिशा एवं उज्जैनी के पुरातन परम्परा-गत चले आए घनिष्ठ सम्बन्ध में एक महत्पूर्ण स्थान रखेगा।"

"स्वस्ति-स्वस्ति!" सम्राट गद्‌गद् हुए—कितनी श्रेष्ठ आकांक्षाएँ हैं आपकी! वह मंगलमय दिवस शीघ्र ही आए, जब हम इस नाट्य को विदिशा के रंग-मञ्च पर देखेंगे!"

—सम्राट भावुक हो गए थे।

# ४१

## मालविकाग्निमित्र

शनः-शनैः वह रात्रि भी आई, जिसमें कवि का नाट्य "मालविकाग्निमित्र" विदिशा के रंग-मञ्च पर खेला जाने को था। वसंत मधुमास का विदिशा में प्रभाव था, आज वसन्त-महोत्सव के उपलक्ष में कवि का नवीन नाट्य विदिशा के रंग-मञ्च पर खेला जाने को था। जन-जन के मानस में "मालविकाग्निमित्र" के प्रति विशेष उल्लास छा रहा था। यूथ-के-यूथ बनकर नागरिक-गण विदिशा के वृहद् सभागार की नाट्य-शाला में आ उपस्थित हो रहे थे, देखते-ही-देखते नाट्यशाला दर्शकों से परिपूर्ण हो गई।

शुभ संयोग बनते ही नीचगिरि की कोमलांगी-तन्वी राज-नर्तकियों के कुशल नृत्य-प्रदर्शन के साथ महोत्सव का शुभारम्भ हुआ एवं "मालविकाग्निमित्र" जन-मानव को मोहते हुए विदिशा के रंग-मञ्च पर प्रभावशील हुआ। अत्यन्त सुखद सामंजस्य बना, चित्रवत् नागरिक-गण देख रहे थे। सम्राट स्वयं थकित थे। दो-दण्ड रात्रि बीते तक यह सुखकर नेत्ररम्य नाट्य चलता रहा।

नाट्य-समाप्ति पर जन-जन की प्रशस्तियाँ प्राप्तकर कवि-कालिदास सम्राट के साथ प्रसाद में आये। सम्राट आज अत्यन्त ही प्रमुदित हुए जा रहे थे। कवि से बोले—

"कविवर! निस्सन्देह यह नाट्य विदिशा एवं उज्जयिनी के इतिहास की स्पृहणीय कृति है। मेरी आकांक्षा है—यह पुनः एक बार विदिशा के रंग-मञ्च पर प्रभावशील हो और इस उपलक्ष में समूचे आर्यावर्त के नरेशों को आमंत्रित किया जाय–विदिशा धन्य हो जायगी!"

—और कहते-ही-कहते हर्षावेश में सम्राट भागभद्र का श्वास भर आया और वे रुक गए।

कवि गद्‌गद् हुए—"मेरा सौभाग्य है, आयुष्मन्!"

सम्राट का श्वास-संचार अभी चल रहा था, बोले नहीं, मुस्कुराए भर।

कवि कुछ क्षणों के लिए विचार में खोए—यदि इस नाट्य की चर्चा उज्जयिनी तक पहुँची, तो...!...निःसन्देह मेनका को साथ लेकर प्रियं यहाँ अवश्य ही आ जायगी!...और यदि ऐसा हुआ, तो अनर्थ होगा मेरे उद्देश्य का। मुझे अब अवश्य ही विदिशा त्याग कहीं अन्यत्र चल देना चाहिए–। और अवसर देख कवि ने सम्राट भागभद्र से कह ही दिया—

"आयुष्मन्! आपकी आज्ञा का पालन सेवक द्वारा हो चुका है। अब मुझे भ्रमणार्थ कहीं जाने की आज्ञा दें तो उपयुक्त हो!"

"ऐसा क्यों?" सम्राट मुस्कुराए—"इतने शीघ्र ही!"

"आयुष्मन्! मुझे भय है, मेरे यहाँ के निवास की सूचना उज्जयिनी पहुँच जायगी और मेरी उद्देश्य-पूर्ति में शायद बाधा प्रस्तुत हो जाय!"

सम्राट मुस्कराए—"परन्तु यह समाचार तो मेनका द्वारा कभी का ही उज्जयिनी पहुँच चुका है!"

"नहीं, नरेन्द्र! वह मैंने गोप्य ही रखवाया है!"

"यह आपने उचित नहीं किया। अपराध पर किसी को इतना कठोर दण्ड नहीं दिया जाता। कुमारी के सूक्ष्म-से अपराध को लेकर आप उसे कितना कठोर दण्ड दे रहे हैं !"

कवि मौन रहे। सम्राट ने व्यंग किया—खैर मेनका को आपने स्नेह के बन्धन में बाँध इस रहस्य को गोप्य ही बना दिया; तो क्या हुआ ? "मालविकाग्निमित्र" अपने प्रभाव को दिखाये बिना नहीं रह सकता, फिर मेरा तो विचार है "मालविकाग्निमित्र" एक बार पुनः विदिशा के रंग-मञ्च पर खेला जाय और जिसमें हम समूचे भारत के नरेशों को कोई शुभ संयोग बनाकर विदिशा में आमंत्रित करें !"

"आयुष्मन् ! मेरा इस विषय में अधिक कहना शायद साहस ही होगा; परन्तु मेरी पुनश्च यही प्रार्थना है कि मेरा अब जाना ही श्रेयस्कर है !"

सम्राट मुस्कराए—"अभी तो आप जा सोइए। प्रातः समीचीन चर्चा करेंगे !"

और सम्राट कवि को शयन करने का स्नेहादेश देकर अपने शयन-कक्ष में चले गए, क्योंकि रात्रि अधिक बीत चुकी थी।

# ४२

## सम्राट् भागभद्र का अवसान

रात्रि अभी और भी अवशेष थी। कवि चिन्तितावस्था में अभी तक अपने शयन-कक्ष में गवाक्ष के समीप खड़े दूर नीले अम्बर में चमकते चन्द्रमा को एक-टक देख रहे थे। मस्तिष्क में विचारों का द्वन्द मच रहा था। एक के बाद एक चित्र मानस-पटल पर आते, आकर छाते जाते और फिर उतरने का नाम ही न लेते—प्रियं...आचार्य... सम्राट...और मेनका! कवि के नेत्रों में अश्रु छलक आये। कवि को अपनी निर्बलता का सहसा आभास हुआ और वे पर्यंक पर हठतः सोने के विचार से लेट गये। मन में शंका अभी भी मतिष्क को अस्थिर किये थी—सम्राट आज्ञा देंगे या नहीं!"

सहसा इसी समय एक राज्य-सेविका कवि के कोष्ठक में आई। वह घबराई-घबराई-सी प्रकंपित गिरा में बोली—"सम्राट ने आपको स्मरण किया है—वे अत्यन्त अस्वस्थ हैं।"

दासी का अंग-प्रत्यंग काँप रहा था शीत ज्वर के समान और उसका उच्च वक्ष धम्मन की तरह क्षण-प्रतिक्षण उठ-गिर रहा था—उसकी

यह दशा देख कवि एक क्षण भर के लिए हतप्रभ हो गए। वे तत्काल ही सम्राट के शयन-कक्ष में आए।

यहाँ का वातावरण देख कवि किंकर्त्तव्यविमूढ़-से हो गए। उन्होंने देखा—कक्ष में बहुत से लोग उपस्थित थे—राजवैद्य, सेना-नायक, सचिवगण और भी अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति। सभी के मुख पर करुणा का साम्राज्य था। यहाँ का यह अशुभ रूप देखकर कवि और भी हतप्रभ हो गए। समीप जाकर देखा—पर्यङ्क पर वृद्ध सम्राट अर्ध मूर्छितावस्था में पड़े हुए थे—नेत्र अर्धोन्मीलित थे। उनके सिरहाने पर राजवैद्य बैठे अनेक प्रकार से परिचर्या करने में तल्लीन थे। दो सेविकाएँ सम्राट के पैरों के तलुए एवं हाथों में औषधि लेपन कर रही थीं। अधखुले नेत्रों में टिकड़ियाँ ऊपर की दिशा को चढ़ी हुई थीं। यदा-कदा अधिक श्वास-प्रवाह होने पर टिकड़ियाँ इधर-उधर डोल जातीं और पुनः अर्धचन्द्राकारावस्था में पलकों में आधी छिपी स्थिर रह जातीं। इस मध्य वे मुँह से पीड़ा के स्वर में कुछ कराह उठते थे।

सभी उपस्थित व्यक्तियों की दृष्टि सम्राट के तेजस्वी मूर्छित मुख पर स्थिर थी। वातावरण निस्तब्ध हो रहा था। राजवैद्य की औपचारिक क्रियाओं के साधन की ध्वनि के अतिरिक्त यहाँ और कोई शब्द नहीं था। कभी-कभी वायु-संचार से गवाक्ष-पट "फर-फर" कर देते थे। यदा-कदा इसी प्रकार शुभचिन्तकों की दीर्घ श्वास-ध्वनि भी कर्णगोचर हो उठती थी।

कवि आश्चर्य के अथाह सागर में पैठ चुके थे—यह सब कैसे हुआ? रात्रि में सम्राट ने मुझसे पर्याप्त समय तक चर्चा की थी। वे पूर्ण स्वस्थ थे। सम्राट को श्वास-प्रवाह तीव्र हो उठने की व्याधि थी—कवि को स्मरण हुआ और वे समीप ही फर्श पर बैठ गए।

पर्याप्त समय पश्चात् सम्राट कुछ हिले-डुले, विशाल चक्षुओं में टिकड़ियाँ इस दिशा से उस दिशा को दो-तीन बार डोलीं और सम्राट के फड़फड़ाए-अस्पष्टतः।

—"कवि...आए..!"

सभी के उत्सुक नेत्र सम्राट के मुख पर केन्द्रित हुए। राजवैद्य ने कहा—"हाँ, राजेन्द्र! समीप ही उपस्थित हैं।"

सम्राट की टिकटिकियाँ नेत्रों में दो-तीन बार पुनः इस दिशा से उस दिशा में घूमीं—"कहाँ हैं?" शब्दों में लड़खड़ाहट थी और वाणी में अधीरता।

"देव! आपके निकट ही हैं।"

—राज्य-वैद्य ने विनम्र हो निवेदन किया और कवि को सम्राट के निकट जाने का संकेत किया।

"आज्ञा दें, आयुष्मन्!"

—कवि ने सम्राट के निकट जाकर विनम्र शब्दों में कहा।

"समीप बैठो, महात्मन्!"—सम्राट ने कवि को बैठ जाने का संकेत किया। कवि आदेशानुसार वहीं पर्यंक पर सम्राट के निकट बैठ गए। सम्राट पुनः बोले—"महात्मन्! अब सम्भवतः प्रातः के उगते भगवान भास्कर को मैं नहीं देख पाऊँगा...!"

"नहीं, आयुष्मन्! ऐसा न कहिए, आप स्वस्थ हो जाएँगे।"

—कवि ने देखा सम्राट भागभद्र के मुख पर छोटी-छोटी स्वेद-बिन्दियाँ उभर आई थी। "नहीं, असम्भव है!" निराश शब्दों में भागभद्र पुनः बोले। उनके शब्दों में कराह एवं वाणी में लड़खड़ाहट थी—"बहुत दिनों से मैं अस्वस्थ हो रहा हूँ...आज भी...आज भी एकाएक हृदय-गति द्रुत हो रही है।"

"आयुष्मन्!"

"अब इस शरीर पर विश्वास नहीं..!"

कवि के नेत्रों में अश्रु भर आए; सत्वर हो उन्होंने अपने आप पर नियंत्रण किया। वह कुछ कहना चाहते ही थे; किन्तु इसके प्रथम ही सम्राट पुनः बोल उठे—"महात्मन्! "मालविकाग्निमित्र" का एक बार विश्व के सर्वोच्च शिखर पर चढ़ा देने की मेरी अभिलाषा थी। मैं यह पूर्ण न कर पाया...विधि बलवान है।"

"आयुष्मन्! आपका शुभाशीष हो, सर्वसिद्ध होगा।"

"मैं तो अब कुछ क्षण का ही हूँ—मेरी आपसे कुछ याचना है।"

"आयुष्मन्! आज्ञा प्रदान करें।"

"विदिशा को अब आपकी आवश्यकता है...मैं जा रहा इसलिए आपको यहाँ कुछ काल रुकना ही पड़ेगा।"

"आयुष्मन्...!"

—कवि नतमस्तक हुए।

"महा...मंत्रीजी...! और पुनः सम्राट की जिह्वा लड़खड़ा उठी। दन्त-पंक्ति परस्पर जकड़ गई और वे पुनः निश्चल हो गए।

कोष्ठक में पुनः सन्नाटा छा गया। वैद्य औपचारिक क्रिया में लग गए। सहसा सम्राट डोले, मूर्छना खुली और वे बोले—

"अमात्य जी!"

"आज्ञा हो, सम्राटवर!"

—समीप ही खड़े वृद्ध महामात्य ने मस्तक नवाया।

सम्राट कराहे और बोले—"अब आज्ञा नहीं, आशा ही करता हूँ आपसे!"

"आदेश हो, नरेन्द्र।"

"विदिशा की रक्षा अब आप सभी के हाथ है। राज्य देवहुति को ही दिया जाना यथेष्ठ होगा—उसे भी न देख पाया मैं अभागा।"

—सम्राट भागभद्र की पलकें भीगीं।

"मैं प्रातः ही तक्षशिला दूत पहुँचा दूँगा!"

सम्राट अब कुछ भी न बोल सके। एक क्षण उनके मूक नेत्र कवि के प्रखर नेत्रों से मिले और सम्राट का शरीर निश्चल हो गया।

कोष्ठक में पुनः नीरवता छाई। प्रातः होने को ही था, चिड़ियाँ कलरव करने लगीं। ताम्रचूड़ ने प्रातःसूचक कण्ठ-ध्वनि की। विदिशा के विशाल विष्णु-मंदिर में झालर बज उठी—एक तीखी शंख-ध्वनि सुदूर में गूँजी।

सहसा सम्राट के हाथ किसी अदृश्य शक्ति को प्रणाम करने के लिए उठे तदनन्तर एक बार पुनः कवि के करुणा भरे कुसुम नेत्रों से सम्राट चक्षु मिले, और मिले ही रह गए।

"महात्मन्...! मैं चला।" और सम्राट की जिह्वा लड़खड़ा उठी। एक बार पुनः अदृश्य शक्ति को प्रणाम के लिए सम्राट के श्रद्धामय हाथ उठे, मुख पर मुस्कराहट की आभा खिंच आई, नेत्रों में काली टिकड़ियाँ दो-तीन बार इस दिशा से उस दिशा में डोलीं—नेत्र अर्धोन्मीलित हुए। दो तीन हिचकियाँ आईं और मुस्कराहट का भाव अपने वृद्ध मुख पर छोड़ तेजस्वी सम्राट भागभद्र उस दिव्यालोक के लिए इस लोक से प्रयाण कर गए।

सहसा राज्य-वैद्य के नेत्रों से "टप-टप" अश्रु टपक पड़े और अपने काँपते हाथों से उसने गंगा जल सम्राट के खुले मुख में डाल दिया। एक दीर्घ निःश्वास ली और राज्य-वैद्य नतमस्तक हो अलग सरक गए सर्वस्व हारे द्यूत-खिलाड़ी के समान।

"सम्राट सदैव के लिए सो गए हैं!"

—याचक-मुद्रा में खड़े महामात्य को राज्य-वैद्य ने साहस कर कह दिया।

सन्नाटा छा गया उनके वदन में जिन्होंने ये शब्द सुन लिए थे।

कवि ने भीगी पलकों को पोंछ, शुभ्र कौशेय वसन सम्राट भागभद्र के निर्जीव देह पर डाल दिया। समीप ही अन्तःपुर के कक्ष में करुणा से ओतप्रोत हर्म्य-विलासिनियों की हृदय-विदारक क्रन्दन-ध्वनि प्रासाद में गूँज उठी।

मूक मौन था अम्बर और नतमस्तक थी आज स्वर्गीय भागभद्र के भव्य प्रासाद के उच्च शिखर की पताका।

# ४३

## मानिनी

मेनका जब विदिशा से अवन्ती लौटकर आई उसने कुमारी प्रियंगुमञ्जरी का शरीर और भी क्षीण देखा। उसकी पलकें रो-रोकर सूख गई थीं। मुख श्वेत हो गया था। मेनका को आई देख प्रियंगुमञ्जरी दौड़कर उसके पास गई, अधीर हो पूछा—"क्या हुआ, मेनका!"

"कुमारी! धैर्य धरें आप। एक न एक दिन कवि अवश्य ही आएँगे!"

"मेरा धैर्य बैठा जा रहा है, मेनका!" प्रियंगुमञ्जरी रो उठी—"न मैं तुम पर व्यर्थ की शंका करती, न यह सब होता!" और प्रियंगुमञ्जरी मेनका के वक्ष से चिपककर अपने पश्चात्ताप के गरम अश्रु बहाने लगी।

बड़ी कठिनाई से मेनका ने प्रियं को धैर्य धरवाया; परन्तु मेनका कवि-सम्बन्धी विदिशा के समाचार छिपा गई—कवि का यही तो आदेश था!

कभी-कभी प्रियंगुमञ्जरी की करुणाजनक दशा देखकर मेनका

के मन में आता कि वह सब कुछ कह दे, वह यह एक बहुत बड़ा अपराध कर रही है, और वह कह देने को उतारू होती; परन्तु तत्काल ही उसे न जाने कौन सी अदृश्य शक्ति यह सब कहने से रोक लेती—क्या तुम्हें कवि और कवि के उद्देश्य का तनिक ध्यान नहीं!" एक प्रश्न उठता उसके मस्तिष्क में और वह ज्यों की त्यों स्तम्भित-सी रह जाती, किन्तु इस कारण वह स्वयं अपने आपमें घुल-घुलकर दुर्बल होती चली जा रही थी। वह क्या करे और क्या नहीं—उसे मस्तिष्क से किसी भी प्रकार का निराकरण एवं संतोषप्रद उत्तर नहीं मिलता था।

कुमारी प्रियंगुमंजरी एवं स्वयं अपने धैर्य के लिए वह धार्मिक *ग्रन्थों का अध्ययन किया करती थी। वह वाल्मीकि रामायण से सीता के* संकटकालीन अवसर का पाठ प्रियं के सम्मुख बैठ करती। इस समय भगवान अभिज्ञान-बुद्ध की कथा अधिक प्रचलित थी। कुमारी के अधिक विचलित हो उठने पर वह *बुद्ध-गृह-त्याग* एवं यशोधरा के धैर्य की कथा अपने ढंग से रुचिकर बनाकर प्रियंगुमंजरी को सुनाती।

परंतु प्रियंगुमंजरी दिन प्रतिदिन करुणा की साकार प्रतिमा बनती चली जा रही थी। हँसना तो दूर मुख पर मुस्कान की हलकी रेखा भी आना दुर्लभ था। इस दुःख के बाहुल्य से भरा प्रियंगुमंजरी का यह कठोर समय किस भाँति कट रहा था इसका अनुमान भला कौन पा सकेगा!

कभी-कभी आशाओं को निराशा में परिवर्तित होते देख मनुष्य का व्यथित हृदय अत्यधिक विचलित हो उठता है। इस समय हृदय की प्रबल शक्ति धैर्य—आशा एवं निराशा को अपने प्रबल अंकुश से दाबकर मनुष्य को जड़वत् बनाए रहती है।

—प्रियंगुमंजरी की भी यही दशा थी।

# ४४

## सुख-संदेश

चिड़ियों ने अभी-अभी ही कलरव-गान आरम्भ किया था, ताम्रचूड़ ने भी प्रात: होने की अपनी विशेष सूचना दी, और सम्राट विक्रम ने अपना पर्यङ्क त्यागा; यद्यपि वे इससे भी बहुत पूर्व जाग चुके थे; परन्तु आज उनका मस्तिष्क किसी राजकीय कार्य में नहीं लग रहा था—प्रियंगु-मंजरी के करुणामय मुख की प्रतिच्छाया उनके नेत्रों में छाई हुई था, और वे उसी के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार कर रहे थे। प्रियंगुमंजरी की यह दशा उनके मानस को व्यथित कर रही थी। कभी-कभी तो उन्हें स्वयं अपने आपमें विरक्ति हो उठती थी। आज भी यही दशा थी, वे सोच रहे—यह राज्यनीति और इसके बन्धन मनुष्य, और जीवन इतना कठोर क्यों होता है? क्या इस पर भो कभी कोई विचार करता होगा? मुझे इतना भी अवकाश क्यों नहीं कि मैं अपनी पुत्री के दु:ख में सहयोग दे सकूँ, उसके निकट बैठ एक क्षण सांत्वना के दो-शब्द भर कह सकूँ! क्या मैं और मेरे जैसे सभी राजनैतिक मनुष्यों का यही संघर्षमय जीवन होता है? संघर्ष के अतिरिक्त हमारा कोई लक्ष्य ही नहीं? ऐसा क्यों...?

उदधि से उठ रही ज्वार की उत्ताल तरंगों की भाँति अनेक प्रश्न-मय विचार-चक्र मालवेन्द्र के समुद्री चट्टान की तरह अटल ठोस हृदय में आ-आकर टकरा रहे थे। सम्राट नेत्र मूँदें पर्यंक पर लेटे इन सभी विचारों पर अपना कोई निराकरण लेने में तल्लीन थे—यही उनका स्वभाव था। जिस विषय पर वे विचार करते उस पर वे पर्याप्त समय तक सोचा करते थे, यही स्थिति आज भी थी। अनुशीलन उनके स्वभाव का एक विशेष गुण था।

सहसा समीप नगर चौराहे पर स्थित विशाल देवालय में से घण्टों की ध्वनि हुई, और मालवेन्द्र की विचार-तंद्रा भंग हुई। वे पर्यंक त्याग नित्य-कर्म करने की अभिलाषा से द्वार से बाहर आए; परन्तु आश्चर्य! द्वार पर ही आचार्य वररुचि इतनी भोर में आते हुए दृष्टि-गोचर हुए—वे प्रासाद की सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे।

सम्राट को द्वार पर देख आचार्य मुस्कराए, और बोले—"आज मैं इतनी भोर में ही चला आया!"

और वे खुलकर हँसे। उनके इस हास्य में एक विशिष्ट प्रसन्नता छलक रही थी। वे अकारण ही पर्याप्त समय तक मन्द-मन्द हास्य करते रहे। सम्राट उन्हें सादर प्रासाद के प्रधान कोष्ठक में लाये। सम्राट उनसे उनके आगमन के सम्बन्ध में कुछ पूछें उसके प्रथम ही वे बोल पड़े—

"सम्राट मैं आज इतने भोर में एक सुखकर सन्देश देने आया हूँ—कवि कालिदास विदिशा में हैं, ऐसा मुझे अभी-अभी ही ज्ञात हुआ है!"

"विदिशा में कवि हैं!"—सम्राट हर्ष एवं आश्चर्य में पुलकित हो उठे।

"हाँ, आज जब मैं अभी-अभी निद्रा त्याग आश्रमवन में टहल रहा था—दो तुरंगारूढ़ वहाँ आए। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वे तक्ष-शिला जा रहे थे, साथियों से भटककर इधर रह गये हैं। वे विदिशा के

राज्य सैनिक थे। और भी प्रश्न करने पर ज्ञात हुआ कि सम्राट भागभद्र का देहान्त हो गया है—वे कुमार देवहुति को तक्षशिला विद्यालय से लिवाने जा रहे हैं। उन्हीं से ज्ञात हुआ कि कालिदास वहीं हैं। वसन्त-महोत्सव के उपलक्ष में कवि द्वारा रचा गया नवीन नाट्य—"मालविकाग्निमित्र" विदिशा के रंग-मञ्च पर खेला गया था एवं सहसा उसी रात्रि को ही हृदय-गति रुक जाने से सम्राट भागभद्र का देहावसान हो गया। दूतों ने यह भी बताया कि—भागभद्र ने मरते समय यही कहा था कि, उनकी यह तीव्र उत्कण्ठा थी कि कवि का यह नाट्य एक बार पुनः किसी शुभ संयोग पर भारत भर के समूचे नरेशों को आमंत्रित कर विदिशा के रंग-मञ्च पर खेला जाए। कवि पर भागभद्र का विशद-स्नेह था, कवि को उन्होंने तो आग्रह कर अभी तक विदिशा में रोक रखा था!"

विदिशा-नरेश भागभद्र की मृत्यु का समाचार सुन मालवेन्द्र विक्रम को अत्यन्त दुःख हुआ; परन्तु साथ ही कवि के समाचार प्रसन्नता प्रदायक थे। सम्राट् बोले—

"आचार्यवर! कवि के हेतु दूत पहुँचाया जाय—?"

हाँ, प्रथम दूत ही भेजना आवश्यक होगा। कवि अब वहाँ हैं या नहीं, यह प्राप्त समाचार कहाँ तक सत्य है—यह सभी जानकारी प्रथम दूत द्वारा ज्ञात करवाना आवश्यक है। राजन्, राज्य-नीति का जाल बड़ा भयंकर होता है। यह समाचार षड्यंत्र भी तो हो सकता है—?"

"निःसन्देह आपका कथन सत्य है, देव!"

आचार्य वररुचिजी के सुझावानुसार मालवेन्द्र ने तत्काल ही सत्य समाचार जानने के हेतु एक विश्वस्त दूत विदिशा पहुँचा दिया।

# ४५

## देवहुति

सम्राट भागभद्र के कथनानुसार कुमार देवहुति को ही राज्य-तिलक किया गया। देवहुति स्वस्थ तरुण नवयुवक था। विशाल राज्य पर अधिकार आते ही उसकी मति विपरीत हो गई। विद्यालय के कठोर नियमों से छुटकारा पाते ही अकस्मात् उसे इतना गौरवमय "सम्राट" पद प्राप्त हुआ था। विस्तृत साम्राज्य एवं अनेक प्रकार के ऐश्वर्य प्रसाधन, जिनसे कि उसे विद्यालय में सदैव दूर रखा गया था; देवहुति को प्राप्त हुए।

अनेक प्रकार से सेवा एवं आज्ञाओं का पालन करने में सदैव तत्परा-पेशलरूपा राज्य-दासियों को देख, उसकी लोलुप कलुषित भावनाएँ जाग्रत हो उग्र रूप धारण करती जा रही थीं। यही कारण था कि जो दासियाँ सम्राट भागभद्र के काल में पुत्री तुल्य प्रासाद में रह अनेक प्रकार की सेवाएँ करती थीं, वही अब देवहुति के कामी एवं अभद्रतापूर्ण निकृष्ट व्यवहार से असन्तुष्ट हो गई। देवहुति मदिरा पान करने लगा था, जिसकी मात्रा दिन प्रतिदिन बढ़ती ही चली जा

रही थी। एक प्रकार से आकस्मिक रूप से प्राप्त हुए इस वैभव प्रसाधनों ने उसकी मति कुण्ठित कर दी थी, और सम्राट पद के मद ने उसे अन्धा बना दिया था। उसके नारकीय व्यवहारों से असन्तुष्ट हो राज्य-दासियाँ प्रासाद त्याग कर भागने लगीं। वही हर्म्य में आने एवं रहने लगीं, जो देवहुति की दुश्चेष्टाओं का प्रतिरोध नहीं करती थीं।

देवहुति दिन-रात क्रीड़ागार में पड़ा मदिरा पान किया करता था। यही कारण था कि भागभद्र के विश्वासपात्र वृद्ध सचिवगण देवहुति से रुष्ट हो गए। देवहुति ने उन्हें सेवा से पृथक् कर अपने नये सचिवों को राज्यकार्य सौंपा, जो चाटुकार एवं स्वार्थी थे। इस अल्पकाल में ही देवहुति के इन व्यवहारों से प्रजा में अशान्ति छा गई। विदिशा की दशा शोचनीय थी, इधर देवहुति को प्रजा के कष्ट की कोई चिन्ता नहीं थी। वह अपने ऐश्वर्य में खो-सा गया था।

स्वयं कवि कालिदास इन निकृष्ट अश्लाघनीय व्यवहारों से असन्तुष्ट हो उठे थे तथा विदिशा त्याग देने के प्रयत्नों में प्रयत्नशील थे; परन्तु न जाने कौन सी शक्ति देवहुति को कवि पर आकर्षित किए हुए थी। वह उन्हें विशिष्ट सम्मान देता था एवं उन्हें जाने से सदैव रोक लेता था।

देवहुति यदा-कदा ही राज्य-सभा में जाता था; परन्तु आज दैव-संयोग से वह सभा में आया। कवि भी आज उसी के साथ थे। राज्य कार्य होने से सर्वप्रथम सभागार में राज नर्तकियों ने नृत्य किया। नृत्यसभा के प्रारूप का एक अंग बन गया था।

आज कवि से मिलने के लिए दूर-दूर के विद्वान्गण आए थे। सभी विद्वानों से कवि ने भेंट की। एक विद्वान्, जिसने कि अपने आपको मगध का बताया था। वह बड़े चंचल स्वभाव का था। बोलने में उसके प्रत्येक शब्द से चातुर्य छलकता था। वह कवि से मुस्करा कर बोला—

"मैंने भी एक कवित्वमय वृहद् ग्रन्थ की रचना की है। उसके सम्बन्ध में मैं आपसे आपका मन्तव्य लेने आया हूँ। और भी अनेक प्रकार की गोपनीय चर्चाएँ करनी हैं, यदि आप मेरे साथ मेरे निवास स्थान पर चलेंगे, तो मैं बड़ा आभारी रहूँगा।"

कवि को उसके प्रति कुछ शंका-सी उत्पन्न हुई। उसके मुख को देखकर उन्हें ऐसा भासता था कि उसे उन्होंने अनेक बार कहीं देखा है। अपनी चर्चा के तारतम्य में उसने कवि के जीवन-सम्बन्धी अनेक प्रच्छन्न संकेत भी किए थे, जिससे कवि को उसके प्रति कुछ भय-सा लगा। इसी से कवि ने सविनय शब्दों में कहा—विद्वन्! यदि आप मेरे ही निवास-स्थान पर चलें, तो उपयुक्त रहेगा। मैं किसी के निवास-स्थान पर नहीं जाता, ऐसा मेरा नियम है!"

उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया। कवि उसे साथ ले अपने निवास-स्थान पर लाए। आगन्तुक विद्वान् बोला—

"मैं मागधी हूँ—इससे अधिक परिचय मैंने आपको नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त आपने न मेरे नाम के सम्बन्ध में और न और किसी अन्य प्रकार की जानकारी लेना उपयुक्त समझा—?"

—और वह कुटिल मुस्कान में मुस्काने लगा।

कवि कुछ लज्जित-से होकर बोले—

—"विद्वान् क्षमा करें! विस्मृति रही। न जाने क्यों आपको देख मुझे ऐसा लगता है कि मैंने आपको कहीं अनेक बार देखा है।"

"आपका अनुमान ध्रुव सत्य है!" वह मुस्कराया—"यहाँ तक तो आपने मुझे पहिचाना, अब आगे का परिचय मैं स्वयं ही दे देता हूँ—वास्तव में मैं मागधी नहीं, अवन्ती वासी हूँ, मालवेन्द्र विक्रमादित्य का विश्वस्त सामन्त उदयादित्य!"

—साथ ही उस व्यक्ति ने अपने मुख पर लगी कृत्रिम दाढ़ी-मूँछ

को अलग हटा दिया। कवि के शरीर पर जैसे बर्फ की शीतल चट्टान जम गई हो, उसी प्रकार कवि वहीं सन्न-से रह गये।

—"आप गुप्त रूप से क्यों आये—?"

"आपके लिए ही!" और वह मुस्कराकर कहने लगा—"बहुत पहिले जब सम्राट भागभद्र का देहान्त हुआ था, तब हमें ज्ञात हुआ कि आप विदिशा में हैं। उसी दिवस सत्वर ही सम्राट ने एक विश्वस्त 'चर' को भेजा। वह कुछ दिन यहाँ रहा, यहाँ की गति-विधि तथा आपका यहाँ रहना अपने नेत्रों से देख गया। पश्चात् स्वतः सम्राट आने को उद्यत हुए; परन्तु इसी मध्य एक घटना उज्जैनी में घट गई। जैन-आश्रम एवं उज्जैनी के चैत्य के प्रतिष्ठाता कालकाचार्य पुनः उज्जैनी आए थे, वहीं कुछ दिवस अस्वस्थ रहकर वे स्वर्ग गामी हो गए। इसी समय उज्जैनी में भ्रमण करते हुए गौतमी पुत्र सातिकर्णी भी आए एवं वहीं सम्राट के आधिपत्य में कुछ काल के लिए रुके भी। इस प्रकार राज्यनैतिक एवं धार्मिक संकटों में उलझकर मालवेन्द्र आप तक आने में असमर्थ रहे।"

"मुझसे सम्बन्धित और क्या-क्या समाचार आपको दूत द्वारा ज्ञात हुए?"

"सभी, पर्याप्त!" वह मुस्कराया—"और आपसे अधिक नवीन सम्राट् देवहुति के।"

"क्या अभिप्राय?"

"सुव्यवस्थित विशाल साम्राज्य का किस प्रकार दुरुपयोग किया जा रहा है—यह किससे छिपा है? प्रजा की कैसी दुर्दशा हो रही है?"

वह कुछ गम्भीर हो गया—ऐसे साम्राज्य को तो अवन्ती के अन्तर्गत ही होना चाहिए!"

"यथार्थ है! स्वर्गीय सम्राट भागभद्र के पवित्र राज्य को कामान्ध देवहुति ने कलुषित कर रखा है। इसे पवित्र करना एवं प्रजा को सुखी बनाना मालवेन्द्र के हो हाथ है?"

सामन्त उदयादित्य मुस्कराया, और बोला—"तो इस सम्बन्ध में आप अवन्ती चलने को तैयार हैं न ?"

"मैं !" कवि गम्भीर हुए—"मैं अवन्ती चलकर क्या करूँगा ?"

"यदि सम्राट स्वतः आपको लिवाने आते, तो क्या आप उन्हें भी यही प्रत्युत्तर देते ?"

—सामन्त मुस्कराया भी ।

"मेरी दो बातें कभी भी नहीं रही हैं !"—कवि ने तटस्थ उत्तर दिया—"मुझे मेरे जीवन में अभी बहुत कुछ लिखना है। वह मैं अवन्तिका से दूर लिख रहा हूँ ।"

सामन्त उदयादित्य ने सभी प्रकार से प्रयत्न किये; परन्तु कवि किसी भी रूप में अवन्ती चलने का राजी नहीं हुए। परिणामस्वरूप सामन्त उदयादित्य को निराश हो लौट जाना पड़ा ।

## ४६

# विचार-विमर्श

अवन्तिका में आ सामन्त उदयादित्य ने समाचार आद्योपान्त सम्राट को कह सुनाए। सम्राट विचलित हो उठे एवं उसी क्षण आचार्य वररुचि के आश्रम गए। आचार्य आश्रम-वाटिका में पुष्प-क्यारियाँ सींचने में रत थे।

सम्राट ने अधीर हो कहा—

"देव! उदयादित्य को भी निराश ही लौट आना पड़ा। कवि भी किसी दशा में उज्जयिनी आना स्वीकार नहीं करते—अब क्या होगा?"

"...बेटी...प्रियं...!"—आचार्य कुछ उदास हुए।

विक्रम और भी अधिक करुण हो बोले—"देव! प्रियं से अधिक मुझे राज्य की चिन्ता है। राज्य के लिए कवि का अवन्ती आना आवश्यक है, उसे हम कैसे त्यागें? वह अवन्तिका के ज्योतिर्मय रत्न हैं।

"यथार्थ है राजन्! कवि उज्जयिनी का वह ज्योतिर्मय रत्न है, जिसका प्रकाश दिन प्रतिदिन द्विगुणित गति से और भी उज्ज्वल होता जा रहा है। आचार्य वराहमिहर की वाणी ध्रुव सिद्ध रही।"

मालवेन्द्र बोले—

"उदयादित्य कह रहे थे; दिन प्रतिदिन दूर सुदूर के विद्वान्-दल कवि से मिलने विदिशा जाते हैं। स्वतः यह ढंग देख उदयादित्य ने भी मगध के विद्वान् का भेष बनाया था। आचार्यवर! कवि को किसी भी रूप में उज्जयिनी लाना ही होगा।"

"राजन्! विचलित न हों स्वयंभू सभी उचित करेंगे। मेरा मन्तव्य है—आप स्वयं ही समस्त राजनैतिक कार्यों को स्थगित कर कवि को लिवाने विदिशा जावें। आपकी आज्ञा टालने का साहस कवि से न बन पड़ेगा। हाँ, परन्तु आप भी वेश परिवर्तित करके ही जाएँ!"

"जैसी आज्ञा, आचार्यवर! मैं कल भोर में ही जाऊँगा!"

"हाँ, भोर तड़के ही, साथ में आचार्य वराहमिहर जी को भी ले जाएँ, तो उचित रहेगा। मैं राज्यभार सम्हाल लूँगा!"

सम्राट पुलकित हो उठे थे। बोले—

"आचार्य-प्रवर! हर विषम संकट में आप सहाय हुए हैं—मैं कैसे उऋण हो सकूँगा!"

आचार्य मुस्कराए। उन्होंने कहा—

"राजन्! विवेक से कार्य लो, राष्ट्र की रक्षा करना सभी का तो कर्त्तव्य है!"

सम्राट जाने को उद्यत हुए तो आचार्यजी कहा—"राजन् स्मरण रखना, यह रहस्य अभी गोपनीय ही है। आपकी आगामी यात्रा इसी आश्रम से प्रातः आरम्भ होगी!"

और सम्राट को आचार्य ने विदा किया।

## ४७

# मालवेन्द्र विक्रम की विदिशा-यात्रा

आचार्य वररुचिजी के आश्रम से आ सम्राट विक्रम प्रियंगुमंजरी के कोष्ठक में आए। प्रियं कोष्ठक में अकेली बैठी किसी ग्रन्थ का अध्ययन कर रही थी। समीप जाकर सम्राट विक्रम वात्सल्य स्वर में बोले—

"पुत्रि! मैं कल एक आवश्यक राज्य कार्यवश उज्जैनी से बहुत दूर यात्रा पर जा रहा हूँ। एक पक्ष में शीघ्र ही लौट आऊँगा। तुम आचार्य वररुचि के पास रह लोगी न?"

स्वीकार के रूप में प्रियं ने अपने मस्तक को हिलाया, साथ ही ओस-कण के समान स्निग्ध पलकों से अश्रु झरने लगे।

सम्राट का वात्सल्य उमड़ा और उन्होंने प्रियंगुमंजरी को गले से लगा लिया। पर्याप्त समय तक वे प्रियं के कौशेय जम—कोमल-कृष्ण-कुन्तलाओं को सहलाते रहे।

आज रात्रि विक्रम सो न सके। अनेक विचारों व निष्कर्ष निकालने में ही सारी रात्रि बीत गई—ताम्रचूड़ की ध्वनि से उन्हें इसका ज्ञान हुआ। प्रातःकालीन सर्व क्रियाओं से निवृत्त हो विक्रम ब्राह्मण विद्वान्

का-सा वेष बनाकर आचार्य वररुचिजी के आश्रम पहुँच गए। वराहमिहर जी को भी सूचित कर दिया गया था, वे भी वहीं उपस्थित थे। शुभ-मुहूर्त में आचार्य वराहमिहर एवं अन्य विद्वानों के साथ सम्राट् विक्रम विदिशा के लिए प्रस्थान कर गए।

परन्तु सम्राट् की एकाएक ही यह यात्रा प्रियंगुमंजरी को समझ में नहीं आ-सकी। कवि के "मालविकाग्निमित्र" की प्रशंसा दूर-दूर तक प्रसारित हो रही थी; परन्तु नीरव कक्ष में सदैव गहन अनुशीलन में डूबी रहनेवाली प्रियंगुमंजरी से यह अभी तक गोप्य ही था। वह प्रासाद त्याग अब कहीं भी नहीं जाती थी। हर्म्य की सभी दासियों को आदेश दे दिए गए थे—" कवि-सम्बन्धी सभी प्रकार के समाचार प्रियंगुमंजरी से गोप्य रखे जाएँ!"

मालवेन्दु विक्रम के चले जाने पर राज्यभार आचार्य वररुचिजी ने सम्हाला, दुःखिता प्रियंगुमंजरी की देखभाल भी करते रहे। प्रतीक्षा में ही सम्राट के आने का निश्चित समय आ गया। आचार्य को पूर्ण विश्वास था कि कवि सम्राट के साथ अवश्य आवेगा; परन्तु सम्राट विक्रम निराश-मुख लौट आए।

मालवेन्द्र को अन्य विद्वानों सहित रथ से निराश-मुख उतरते देख आचार्य का मुख उग्र हो उठा। मालवेन्द्र विक्रम के मुख की उदासीनता देख उनकी भृकुटी तन गई। क्रोधोन्मत्त हो वे बोले—

"तो कवि ने आपको भी अस्वीकृति ही दी! बढ़ते सम्मान ने कवि को इतना मद भी दे दिया!!"

—प्रत्येक शब्द पर आचार्य का गला क्रोधाधिक्य से प्रकम्पित हो उठा था।

सम्राट् बोल भी न पाए, वराहमिहरजी ने ही कहा—"नहीं, आचार्यवर! कवि अब विदिशा में भी नहीं है!"

"हे, स्वयंभू...!" आचार्य शिथिल हुए—"तो फिर कहाँ गया....?"

विक्रम अधीर हो रहे थे। प्रकंपित कण्ठ से बोले—"देव ! स्वयंभू मेरी इतनी कठोर परीक्षा किस अपराध पर ले रहे हैं—?"

सम्राट को सांत्वना देकर आचार्य वररुचि सभी को अपने आश्रम लाए। सम्राट विक्रम ने विदिशा के सभी समाचार आद्योपान्त आचार्य को कह सुनाए।

उन्होंने कहा—"विदिशा की अत्यन्त दुर्दशा हो रही है। नवयुवक देवहुति दिन-प्रति-दिन कामान्ध होता चला जा रहा है। उसी के अभद्र व्यवहारों से असन्तुष्ट होकर कवि ने विदिशा त्याग दी। विदिशा के नागरिकों का कहना है कि जब कवि ने विदिशा को त्यागा, तब वही दृश्य बना जो आदि कवि वाल्मीकि ने राम के वन-गमन का दर्शाया है! वहाँ के जन-जन के मन में कवि कालिदास में प्रति अगाध स्नेह है !!"

"साधु साधु— !" एक दीर्घ श्वास छोड़कर आचार्य बोले—"अब कहाँ खोजा जाय—?"

"मेरी मति में कवि को विदिशा एवं उज्जैनी के आस-पास ही कहीं खोजा जाए ! कवि कहीं आस-पास ही यत्र-तत्र होंगे !"

—वराहमिहिरजी ने अपना योग्य मंतव्य दिया।

पुनः प्रबल रूप से कवि के हेतु शोध-कार्य आरम्भ कर दिया गया।

# ४८

## रहस्यमय राजनीतिक घटना

भारत के कोने-कोने में मालवेन्द्र विक्रम ने कवि के शोधकार्य हेतु गुप्तचर भेजे थे। दूर-दूर के 'चर' दिन प्रतिदिन निराश मुख लौट-लौट कर उज्जयिनी आ रहे थे—कवि का कहीं भी पता नहीं था। इन सब लक्षणों से मालवेन्द्र अत्यन्त व्यथित होते जा रहे थे। आज भी मालवेन्द्र के निवासस्थल के मंत्रणागार में दो दूत आए, जिनमें से एक विदिशा का था। उसने कहा—

"विदिशा के सभी ग्राम, कान्तार कवि के हेतु खोज लिए गए हैं; कहीं भी कवि-सम्बन्धी वृत्त प्राप्त नहीं होते हैं। विदिशा के समाचार हृदय पर आघात पहुँचाने जैसे हैं। इस लघु अवधि में ही राजनीति एवं अपनी कलुषित वासना में उलझकर देवहुति मृत्यु के कराल-गाल में समा गया!"

सम्राट मालवेन्द्र चौंके—"क्या, देवहुति का देहान्त हो गया!... परन्तु कैसे!"

"सम्राटवर! यह रहस्यमय गूढ़ वृत्त है। मैंने बड़ी कठिनाई से

अपनी नीति द्वारा ज्ञात किया है। जब मैं विदिशा पहुँचा, एक राज्यकर्मचारी से मेरा परिचय बढ़ा। और उसी के द्वारा मुझे यह ज्ञात हुआ कि देवहुति द्वारा नियुक्त नवीन सचिवों द्वारा ही कुमार देवहुति का प्राणान्त किए जाने की भयावनी चाल यहाँ प्रासाद में चली जा रही है। इसी कारणवश मैं वहाँ और भी अन्य रहस्यपूर्ण वृत्तों की जानकारी पाने की अभिलाषा में रुक गया। नवयुवक कामान्ध देवहुति को प्रतिदिवस अपनी वासनाओं की प्यास में एक नवीन पेशलरूपा अभिसारिका-नायिका चाहती थी। बस, एक रात्रि एक नव-नियुक्त गूढ़ प्रेक्षा ने देवहुति को विष देकर समाप्त कर दिया। और इस महान अनर्थकारी समाचार को अभी तक प्रजा से भी अज्ञात रखा गया है। भोली प्रजा को यही ज्ञात है कि कामी देवहुति अभी भी सदैवानुसार अपने क्रीड़ागार में कामलोलना नूतन राज्य-परिचारिकाओं के सुख-भोग में खोया हुआ है। इधर शासन इने-गिने लोलुप शुङ्ग सचिवों के हाथ का खिलौना बन गया है!"

योगिराज वैताल गम्भीर होकर बोले—"बड़ा विचित्र रहस्य है! देखते ही देखते आर्यावर्त की प्रसिद्ध पौराणिक नगरी की यह क्या दशा हो गई!"

सम्राट विक्रम मुस्कराए और उन्होंने कहा—"राजनीति कब, किस रूप में प्रगट हो, कैसा रूप अपना दिखाएगी!—इसका कोई निश्चित समय नहीं। यह नीति ही बड़ी भयानक है। निःसन्देह देवहुति के सचिव-गण अत्यन्त विशुद्ध चातुरी से अपना कार्य कर गए। देवहुति की मृत्यु के समाचार को छिपा जाना भी कम रहस्य नहीं रखता! यदि यह समाचार गोप्य नहीं किया गया होता, तो विदिशा अभी तक अवश्य किसी अन्य आक्रान्त के अधीनस्थ हो गई होती—विदिशा पर किसकी दृष्टि नहीं है? वह तो स्वर्गीय भागभद्र का तेजबल ही उसके पुनीतत्व को अभी तक बचाए हुए है। देवहुति की विलासिता का लाभ उठाकर उसके निकृष्ट सचिव उसे बड़ी

सरलता से समाप्त कर गए, अब यदि हम विदिशा के राजनैतिक कूट-नीतिज्ञों के नीति-ताण्डव में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, तो वहाँ और भी अत्यन्त वीभत्स प्रकरण घटित होंगे। अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की आकस्मिक मृत्यु के समाचार भी सुनने में आएँगे।"

"इस सम्बन्ध में अवन्तिका की ओर से महत्वपूर्ण चरण उठाया जाना परमावश्यक है!"

—योगिराज बैताल ने अपना मन्तव्य प्रकट किया।

"हाँ, देव! यह कार्य शीघ्रातिशीघ्र ही किया जाना उचित होगा।" सामन्त उदयादित्य ने प्रार्थना की—"परन्तु देवहुति की अकाल मृत्यु के वृत्त को प्रजा से क्यों अज्ञात रखा गया? प्रजा तो ऐसे भी देवहुति से असन्तुष्ट थी!"

विक्रम मुस्कराए। उन्होंने समझाया—

"आकस्मिक रूप से देवहुति की अकाल मृत्यु होना एवं किसी अन्य का राज्यासीन होना, प्रजा के एक महान् विप्लव का कारण बन जाता। कितना भी कहो—प्रजा को अपना सम्राट प्रिय होता ही है! प्रजा की भावना को अपनी ओर आकर्षित करने के हेतु ही यह "राज" गोप्य बनाया गया है।"

"यथार्थ है!"—आचार्य वररुचिजी बोले। वे अभी तक मौन ही बैठे हुए थे। उन्होंने कहा—"हमें अब विदिशा की प्रजा को मालवेन्द्र एवं मालवराज्य की ओर आकर्षित करना है। मेरी दृष्टि में विदिशा अब तत्काल ही मालव का एक प्रमुख राज्यकेन्द्र बनकर ही रहेगी!"

"निःसन्देह!"—वराहमिहरजी ने भी समर्थन में कहा—"अभी ही उचित मन्त्रणाएँ की जायँ। मैं इस सम्बन्ध में आचार्य वररुचिजी का ही योग्य मन्तव्य आमन्त्रित करता हूँ!"

—और मुस्कराए वराहमिहरजी ने आचार्य वररुचिजी के मुख पर अपने भावनामय चक्षु पसारे।

वररुचिजी बोले—

"मैं अपना मत पूर्व ही दे चुका हूँ कि विदिशा की प्रजा को मालवेन्द्र एवं मालवराज्य की ओर आकर्षित करना है। इसके लिए मालव के गूढ़ पुरुष छद्म रूप से विदिशा के ही नागरिक बनकर वहाँ विदिशा के कोने-कोने में फैल जायँ तथा वहाँ की प्रजा को मालवेन्द्र एवं अवन्ती के विधान, तथा साम्राज्य की ओर आकर्षित करें। उज्जयिनी का विधान तथा मालवेन्द्र विक्रम का निस्वार्थ न्याय आर्यावर्त के कोने-कोने में प्रख्यात है। राजनैतिक संकट-चक्र में उलझे विदिशा के नागरिक सहर्ष ही मालवेन्द्र विक्रम को भागभद्र के समान ही आदरणीय मानकर अपना सम्राट स्वीकार कर लेंगे। इस प्रकार विदिशा के दुश्शासन को नष्ट करने के लिए स्वतः विदिशा के नागरिकों की ही एक विशाल सैन्य वहीं तैयार हो जायगी। अब उज्जयिनी के गूढ़ पुरुषों का कार्य होगा, विदिशा में जाकर अपनी बुद्धि एवं नीति के प्रबल बल से विदिशा के नागरिकों का एक संगठन करें तदुपरान्त उसी संगठन के प्रमुख नेता से मालवेन्द्र के प्रति याचना-पत्र प्रस्तुत करवाएँ कि, "हम विदिशा के नागरिक-गण आपको अपना सम्राट स्वेच्छा से मान्य करते हैं, एवं अपनी रक्षा की हम आपसे याचना करते हैं!" इसी प्रकार बुद्धि-अनुसार समय आने पर यह भी प्रकट कर दिया जाए कि "देवहुति निकृष्ट सचिवों के चंगुल में फँस, मारा गया, एवं अब विदिशा का शासन इन्हीं स्वार्थी-सचिवों के हाथों में है।" निःसन्देह विदिशा की प्रजा भड़क उठेगी, परन्तु अवन्ती के चतुर उन्हें विप्लव करने से रोकें, एवं पुनश्च मालवेन्द्र के पास रक्षा की अपेक्षा में विदिशा के विप्लवकारियों का एक नेता प्रतिवेदन के लिए उपस्थित किया जाए। इस नीति को सफलतापूर्वक कार्यरूप में परिणत करना आवश्यक है! ऐसा होने पर तत्काल मालवेन्द्र वहाँ जाकर विदिशा को अपने अधीन कर लेंगे—यही एक मात्र अवलम्बन है और बड़ा सुगम है!"

सभी ने इस वृहद् नीति-योजना को अभिनन्दित कर सहर्ष स्वीकार किया। आचार्य के प्रति सभी ने "साधुवाद" प्रगट किए।

मंत्रणा समाप्त की गई। उसी समय उपस्थित सामन्त उदयादित्य को एवं अन्य विश्वस्त व्यक्तियों को यह कार्य सौंप दिया गया एवं उसी समय वे लोग कार्य-संचालन हेतु चले गए।

# ४९

## विदिशा-विजय

अवन्तिका से विदिशा भेजे गए सामंतों ने विदिशा में आकर अपना कूट-जाल फैलाना आरम्भ कर दिया। उन्होंने अपनी कुशल नीति के बल पर विदिशा के नागरिकों को मालवराज्य एवं मालवेन्द्र की ओर आकर्षित करना आरम्भ कर दिया। प्रजा ऐसे ही प्रथम देवहुति एवं उसके निकृष्ट कृत्यों से असन्तुष्ट हो चुकी थी, विदिशा के नागरिकों का मालव की सुखी प्रजा एवं मालवेन्द्र विक्रम की न्याय-परायणता पर प्रभावित होना स्वाभाविक था। देखते-ही-देखते विदिशा जनपद के विपरीत विदिशा के शासन-विद्रोही नागरिकों का एक विशाल संगठन बन गया। मालवेन्द्र के प्रच्छन्न-पुरुषों ने सुअवसर देखते ही यह भी प्रकट कर दिया कि देवहुति मारा गया, एवं राज्य-कार्य भ्रष्ट-शुङ्ग सचिवों के हाथ है। फिर क्या था! विद्रोही प्रजा मारने-मरने को उद्यत हो उठी। संगठन के कुछ प्रमुख सदस्यगण उज्जयिनी आए और उन्होंने मालवेन्द्र विक्रम से रक्षा की प्रार्थना की, एवं वहीं प्रत्यक्ष में मालवेश को अपना नेता स्वीकार किया।

तत्काल ही उज्जयिनी की विशालवाहिनी सैन्य श्रेष्ठ सेनापतियों के नेतृत्व में विदिशा भेज दी गई। मालव-सैनिकों ने विदिशा को चारो ओर से घेर लिया। इन्हें न तो प्राचीरें तोड़ने पड़ीं न गढ़ के द्वार ही। विप्लवी नागरिकों ने नगर में ही युद्ध आरम्भ कर दिया और विदिशा गढ़ के समूचे द्वार तत्काल खोल दिए। देखते-ही-देखते मालवी वीरों की सुसज्जित सेना विदिशा में प्रवेश कर गई।

जब प्रजा ही विप्लवी थी, तो इने-गिने शुङ्ग सैनिक क्या लड़ते! शासक-सचिवों सहित सभी बिना श्रम तत्काल बन्दी बना लिए गए। विदिशा की प्रजा पर पड़े अत्याचार का आवरण उघड़ गया। विक्रम-सा सम्राट पा आज विदिशा की प्रजा सुखी हो गई। विदिशा के नागरिकों ने विजयोत्सव मनाए। उज्जयिनी में यह सुसमाचार देने हेतु तत्काल ही दूत भेज दिए गए।

सम्राट विक्रम के हर्ष का पार नहीं था। विदिशा साम्राज्य विस्तृत एवं विशाल था, इसी से उसकी प्रारूप व्यवस्था हेतु आचार्य वररुचिजी एवं योगिराज बैताल के साथ मालवेन्द्र विदिशा आए। प्रजा ने उनका भव्य स्वागत कर अभिनन्दन किया।

मालवेन्द्र ने प्रजा की इच्छा-पूर्ति की। प्रजा के मतानुसार ही शुंग बन्दियों को दण्डित किया गया एवं वहीं के कुशल राज-नीतिज्ञों को विदिशा का राज्य-संचालन-कार्य सौंप दिया, साथ ही विदिशा को मालव-राज्य का एक केन्द्रित घोषित कर दिया गया।

अब मालव-राज्य के दो प्रमुख केन्द्र राज्य-संचालन हेतु बन गए। एक विदिशा एवं दूसरा उज्जयिनी।

# ५०

## श्रमण मिहर का शुभ सन्देश

आचार्य वररुचिजी आश्रम-प्रांगण में शिष्यों में बैठे, वैदिक रहस्य पर चर्चा कर रहे थे। वह एक बटु से कह रहे थे—

"वत्स ! वेद पुरातन दार्शनिक ऋषियों की देन, विश्व की वह निधि है, जो प्रलय काल तक मनुष्य के हर क्षेत्र में नवीन मार्ग प्रदर्शित करती रहेगी ! वेदों के हर श्लोक प्रकृति का रहस्य हैं और वेद सृष्टि के सृजन-कल्याण हेतु, प्राचीन ऋषि-मुनियों के चिन्तन-सुधामृत द्वारा रोपा गया एक कल्पवृक्ष है !..."

आचार्य का प्रवचन चल रहा था और अन्तेवासी-बटुगण निर्निमेष मुद्रा में बैठे आचार्य के उपदेश को श्रवण कर रहे थे। इसी समय स्वर्गीय कालकाचार्य के शिष्य मिहर ने आचार्य को अभिवादन किया—

"आचार्य भन्ते ! श्रमण मिहर का अभिवादन स्वीकृत हो !"

"विद्वन्, मिहर ! आओ, कहो कुशल तो है न साध्वि श्रमणा सरस्वती के क्या समाचार हैं ?"

"महात्मन् ! सर्वत्र कुशल है। मैं अभी तीर्थ-क्षेत्र वाराणसी, तथा

अन्य स्थलों पर धर्म-प्रचार हेतु गया था, मार्ग में विन्ध्य-प्रदेशीय पर्वत-माला पर स्थित रामगिरि पर्वत पर एक दिन के लिए ठहर गया था...!"

"आचार्य बोले—

"सुना है—रामगिरि पर्वत अत्यन्त मनोरम स्थल है। भगवान राम ने वहाँ वनवास-काल में निवास किया था!"

"हाँ, महात्मन्! वही पर्वत! और सायंकाल जब मैं पर्वतमाला पर ऐसे ही भ्रमणार्थ निकल पड़ा, तो एक शिला खण्ड पर मैंने कवि कालिदास को बैठा पाया!"

"एँ! सचमुच कवि को!"—आश्चर्य-मिश्रित हर्ष से चौंककर आचार्य बोले।

"हाँ, महात्मन्! कवि को ही। मैंने उन्हें पृष्ठ भाग से देखा है। पीठ पर झूल रही उनकी कुन्तल-केश राशियों से पहिचाना। मैं छिपकर निकट गया। मैंने देखा—वे बार-बार नीलाम्बर की ओर मुख किए कुछ क्षण सोचते एवं पुनः लेखनी उठा—"पत्र" पर लिखने में तन्मय हो जाते। कभी उठकर वे दूर तक पहाड़ी पर से पृथ्वी की ओर नीचे झाँकते तथा अपनी अलंकृत भाषा में संजोए गए स्वतः निर्मित श्लोकों का गान करने लगते, विचित्र मतवालापन पाया मैंने वहाँ कवि में। मैं बहुत समय तक वहीं छिपा कवि की गतिविधियों का अवलोकन करता रहा। तिमिर ने अपने प्रभाव से पूर्ण रूपेण उस पर्वत को ढक लिया, कवि वहीं रहे' तत्पश्चात् अपनी लेखनी एवं समस्त पत्रों को समेट, वे उठकर चल पड़े। तब मैंने समीप से मुख-मुद्रा देखी—उनके नेत्र सूज रहे थे। महात्मन्! मैंने उनके करुणा के सामंजस्य से अलंकृत मुख पर एक विचित्र प्रकाश देखा! अवन्तिका के और वहाँ देखे कवि में मैंने अत्यधिक अन्तर पाया। शरीर से भले ही कवि दुर्बल हो चुके हैं; परन्तु मुख पर तो अलौकिक आभा है! मैंने उनके निवास-स्थल के सम्बन्ध में वहाँ के निवासियों से जानकारी ली तथा वहीं के कुछ सज्जनों

को कवि की गतिविधि पर दृष्टि रखने का कार्य सौंप तत्काल ही आपको सूचित करने चला आया हूँ। अब उन्हें तत्काल ही अवन्ती लिवा लाना चाहिए महात्मन् !"

"मिहर ! आज अवन्तिका के उपकार में तुम एक विशाल कार्य कर गए हो, जिसके लिए अवन्ती तुम्हारी सदैव आभारी रहेगी !"

तत्काल ही आचार्य ने खड़ाऊँ पहनी और मिहर को साथ ले वे अवन्ती के प्रमुख राज्य-प्रासाद की ओर मालवेन्द्र से मिलने चल दिए। प्रासाद में सम्राट के समक्ष पहुँच हर्षावेष में आचार्य ने कहा—"मालवेन्द्र ! अब द्वितीय महोत्सव की तैयारी करो, कवि मिल गए !"

"कहाँ, आचार्यवर !"

—विक्रम की हृदय-गति की आज कल्पना नहीं की जा सकती।

"कवि रामगिरि पर्वत पर हैं, जिसकी किसी को स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी !"

"सत्य देव !"—विक्रम का हृदय एक-एक साथ सौ-सौ धड़कनें लेने लगा।

"हाँ, ध्रुव सत्य ! आज श्रमण मिहर ने उज्जैनी का एक महत्वपूर्ण कार्य किया है।" आचार्य ने सभी समाचार विक्रम को आद्योपान्त कह सुनाए। सम्राट विक्रम ने कृतज्ञतापूर्वक मिहर की ओर देखा एवं अनेकानेक धन्यवाद दिए।

"मैं सत्वर ही देव, अब रामगिरि के लिए प्रस्थान करना चाहता हूँ। अब रहा नहीं जाता, अधिक विलम्ब भी नहीं करना चाहता !"

"सम्राट ! स्नेहवश अधीर न होओ ! कवि इस समय अपने लक्ष्य पर विक्षिप्त हो रहा है। वह सम्भवतः अस्वीकृति न दे दे। कहाँ उज्जैनी ? कहाँ विदिशा ? और अब कहाँ रामगिरि पर्वत-माला ? कवि का उज्जैनी से इतनी दूर जाना क्या कम रहस्य रखता है—"—आचार्य ने कहा।

"मैं अपने स्वयंभू के चरणों पर झुकनेवाले इस मस्तक को अवन्ती के गौरव में, कवि के चरणों पर झुका दूँगा !"

'सम्राट ! विवेक एवं शान्ति से काम लें ! आप मालव के सम्राट हैं, प्रजा आपको स्वयंभू का दूसरा रूप मानती है ।'!

"मुझे मार्ग-दर्शन कराइए, देव ! अब यदि कवि न आए तो विक्षिप्त हो जाऊँगा !"

"राजन् ! धैर्य रखें, मैं पूर्व ही कह चुका हूँ । कवि को अवन्ती न आप, न विश्व की कोई शक्ति ही ला सकती है---कवि मेरा शिष्य है, मेरे द्वारा ही अवन्ती आवेगा । अस्तु आप यात्रा की व्यवस्था शीघ्र कीजिए, प्रियंगुमंजरी भी मेरे ही साथ रहेगी । विदिशा की राज्य-व्यवस्था अभी अधूरी ही है, आपका यहाँ रहना परमावश्यक है !"

—वररुचिजी ने स्नेहातुर मालवेन्द्र को सभी प्रकार से समझाया ।

"जैसा आपका आदेश !"

"परन्तु, मालवेन्द्र ! यह स्मरण रखें—यह रहस्य भी गोपनीय ही है !"

और मालवेन्द्र विक्रम से व्यवस्था करने को कह स्वयं आचार्य प्रियंगुमंजरी के कोष्ठक में आए । प्रियंगुमंजरी गवाक्ष पर बैठे एक गृह-मयूर को अपने कोमल कर से सुहला रही थी ।

आचार्य ने कहा—

"बेटी, प्रियं ! सत्वर ही यात्रा की व्यवस्था कर लो, तुम्हें आज मेरे साथ एक लम्बी-यात्रा पर चलना है, मेनका कहाँ है ? वह भी साथ रहेगी !"

"हमें कहाँ चलना होगा, आचार्यप्रवर !"

प्रियंगुमंजरी ने करुणा से भीगे शब्द कहे ।

"यह तुम्हें ज्ञात हो जायगा । शीघ्र ही व्यवस्था कर मालवेन्द्र के

साथ मेरे आश्रम आओ, वहीं से यात्रा का शुभारम्भ होगा!"

और आचार्य श्रमण मिहिर को साथ ले बाहर आ गए।

"मिहिर! तुम्हें भी हमारे साथ ही चलना होगा!"

"मैं तत्पर हूँ, महात्मन्!"

आचार्य प्रसन्न हुए। उनके शुभसूचक अंग बार-बार फड़क रहे थे। तत्काल ही आश्रम-व्यवस्था अन्तेवासियों को सौंप, स्वतः यात्रा की व्यवस्था करने लगे।

# ५१

## प्रिय-प्रवास

सशस्त्र सैनिकों की रक्षा में रक्षित तीन रथ आश्रम-द्वार पर आकर रुके, विक्रम रथ से उतरे और आचार्य से बोले—

"देव ! यात्रा की व्यवस्था हो चुकी है, प्रियं और मेनका रथ में ही हैं।"

—आचार्य ने देखा—मालवेन्द्र विक्रम के मुख पर आतुरता के भाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहे थे। तदर्थ मालवेन्द्र को एक ओर ले जाकर आचार्य समझा कर बोले—

"राजन् ! विवेक से कार्य लेना, सभी को यही कहने का है कि "आचार्य प्रियंगुमञ्जरी को तीर्थाटन हेतु ले गए हैं। मैं शीघ्र ही कवि को लेकर आ जाऊँगा। विदिशा की ओर विशेष दृष्टि रखने की आवश्यकता है।"

और स्वयंभू का नाम स्मरण कर आचार्य रथ पर बैठ गए। विक्रम श्रद्धामय दृष्टि से आचार्य के सौम्य मुख की ओर विशेषरूप

से देखने लगे। आचार्य मुस्कराए। वे विक्रम के हृदय के भावों को जान गये थे। एतदर्थ सान्त्वनामय शब्दों में पुनः बोले—

"राजन्! स्वयंभू जब कृपा-दृष्टि हेतु हाथ पसारते हैं, तो अशुभ योग भी शुभ बन जाते हैं। आज शुभ संयोग है, आज के मुहूर्त में की गई यात्रा कभी असफल नहीं होगी, यह निश्चय ही जानो! चाहे विश्व की कोई भी शक्ति मार्ग क्यों न रोके।"

आचार्य के शब्द-संकेत को विक्रम समझ गए, उन्होंने अपने आप पर संयम किया और सार्थवाह को रथ हाँकने का आदेश दिया। रथ चल पड़े—अनेक तुरंगारूढ़ सशस्त्र सैनिकों की रक्षा में रक्षित, अपने गन्तव्य की ओर...!

× × × ×

रथ अवन्तिका की सीमा त्याग बहुत दूर तक चले आए थे। मार्ग में न आचार्य प्रियं से बोले, न प्रियंगुमञ्जरी ही आचार्य से कुछ बोली। आचार्य विचार-शृंखला में बद्ध थे और वैसे ही प्रियं तथा मेनका भी।

आचार्य सोच रहे थे—जिस कवि ने विदिशा के विशाल राज्य में विशेष सम्मान प्राप्त किया था। जिसका नाट्य विदिशा-रंगमंच पर राजकीय महोत्सव में खेला गया, जिसे विदिशा की प्रजा स्नेह से अभिभूत हो अभी तक स्मरण करती है। क्या अब वह कवि मेरा एक लघु शिष्य कहे जाने योग्य है!...वह तो राष्ट्र की एकमात्र विभूति है!! उसने मेरे गुरु बनने का मान यथार्थ करके दिखा ही दिया!!!...और आचार्य दूर की गहरी स्मृति में खो गए; उन्हें याद आया—जब एक बार वे वन में भटक गए थे और एक अबोध पशुपाल उन्हें वन में मिला था, वही तो मेरा गुरु बना था! क्या वह कवि विश्व का गुरू नहीं बन सकता!! एक "मालविकाग्निमित्र" ही क्या, वह तो एक अनेक ग्रन्थ-रत्न विश्व-साहित्य को भेंट चढ़ाएगा, वह मेरा शिष्य और गुरू जो है!!! मुझे भी अब

उससे किसी और ढंग से ही चर्चा करनी होगी, क्योंकि वह अब अवन्तिका का सम्मानित रत्न होगा...! सहसा रथ के पहिये के नीचे मार्ग में एक पत्थर आ जाने से एक झटका लगा और आचार्य की विचार-शृंखला टूटी। उन्होंने प्रियंगुमंजरी की ओर देखा—वह घुटनों पर मस्तक टिकाये अपने चञ्चल नेत्रों को अधमींचे बैठी थी—सम्भवतः वह भी कुछ सोच रही होगी।

आचार्य ने प्रियंगुमंजरी से पूछा—

"बेटी तुम्हें यह ज्ञात हुआ कि यह यात्रा कहाँ की और कितनी लम्बी है ?"

"परन्तु यह स्मरण रखो यह यात्रा अत्यन्त ही शुभ परिणाम-दायक सिद्ध होगी। इस यात्रा में स्वयंभू से तू जो भी हृदय से याचना करेगी, वही वर तुझे प्राप्त भी होगा !"

प्रियं ने अपने नेत्रों से वर्षों की संचित आशा के जल को, मूक नेत्र पसार आचार्य के सम्मुख बिखेर दिया—वह रोगी थी।

इस पर आचार्य को आज कोई दुख नहीं हुआ। वे कहने लगे—

"पुत्री ! विश्वास रख, मैं सत्य ही कह रहा हूँ; इस यात्रा का परिणाम भगवान त्रिशूली अत्यन्त ही शुभ देंगे—तूने स्वयंभू से कुछ माँगा ?"

प्रियंगुमंजरी कुछ नहीं बोली। उसने अपने चातक-चक्षुओं को अपने चरणों पर और भी झुका लिया—उसका दुखित हृदय अन्दर ही अन्दर उबाल खा रहा था परन्तु आचार्य बोलते ही रहे—

"तूने स्वयंभू से कुछ भी नहीं माँगा, तू पगली है; परन्तु स्मरण रख—इस यात्रा में महाकाल तुझे तेरी आत्मा की सबसे प्रिय याचना को फली-भूत करेंगे। स्वयंभू का वरद हाथ अमोघ-कृपा के लिये तेरे मस्तक पर छाया हुआ है।"

दृष्टि चुराकर प्रियंगुमंजरी ने आचार्य के भावुक नेत्रों में झाँका, वे मुस्करा रहे थे। प्रियं ने हृदय में ही हृदय से प्रश्न किया—क्या स्वयं-भू मेरे हृदय के ईप्सित को नहीं जानते...?" और एक तूफान उठा उसके दुखित हृदय में एवं प्रकम्पित हो उठा उसका रोम-रोम। व्याधि-पीड़ित पक्षी के समान प्रियंगुमंजरी के अंग-प्रत्यंग थिरक रहे थे तथा मृगी शावक से चंचल नेत्र पुनः अश्रु वृष्टि करने लगे।

## ५२

# स्नेह-संयोग

रथ रामगिरि पर्वत की उपत्यका में पहुँच गए थे। रामगिरि के मनोरम-रम्य पर्वत बड़े सुहावने लग रहे थे। वर्षा का सुखद मौसम लग गया था, इसी से एक-दो बार खुलकर जल-वृष्टि हो चुकी थी। हरे तृण पृथ्वी तल को फोड़ पृथ्वी को अपने में छिपा, ऊपर उठ आए थे। चहुँ दिशि हरियाली-ही-हरियाली छा रही थी, जैसे शुक-वर्ण की मखमली 'कालीन' बिछी हो।

श्रमण मिहर के निर्देशानुसार ही आचार्य ने स्कन्धावार डलवा दिए तथा स्कन्धावार में मेनका एवं प्रियंगुमंजरी को वहीं छोड़ आचार्य और मिहर पर्वत के ऊपर आए। सूर्यदेव अस्ताचल की ओर जा रहे थे अपनी द्रुत गति से और आचार्य एवं मिहर कवि के निवास-स्थल की ओर...।

वहाँ के पर्वत-वासियों से ज्ञात हुआ कि कवि प्रति दिवसानुसार ही आज भी पर्वत-माला पर गए हुए हैं। वे मिहर को साथ लेकर पर्वत पर आए। मिहर ने कहा—"यह वही पर्वत है जिस पर मैंने कवि को

देखा था !"—अनेक पर्वतीय चिन्हों से चिन्हित कर मिहर ने कहा तथा आचार्य को उसी स्थल की ओर ले गया जिस स्थान पर उसने कवि को प्रथम देखा था। दूर शिला-खण्ड पर आचार्य की दृष्टि पड़ी, हर्षावेश में वे बोल उठे—"देखो, वही कवि है !"

आचार्य ने लम्बे डग भरे और कवि के निकट आए। कवि की दृष्टि विपरीत दिशा में थी एवं वह अपने कार्य में तल्लीन थे। आचार्य ने देखा और समीप ही एक वृक्ष की ओट में हो गए—मिहर ! कवि ही है !!" आचार्य ने मिहर से धीरे से कहा, साथ ही उनके ज्योतिर्मय नेत्रों में से अश्रुधार ढलक कर अमल शिला पर पड़ने लगी।

"मिहर, तत्काल लौट चलो, आहट न हो !"

"आचार्यप्रवर...!..."

—मिहर आश्चर्य में था, कवि को पाकर भी आचार्य क्यों लौट रहे हैं। उसने पूछा—"कवि से आप मिले नहीं—?"

"उसे देख लेना ही मेरे लिए पर्याप्त है। वह रत्न अवन्ती का है और प्रियं की एकमात्र थाती !" आचार्य अधिक भावुक हो रहे थे। बोले—"जाओ मिहर, शीघ्र जाओ मेनका सहित प्रियंगुमंजरी को यहाँ ले आओ; परन्तु यह नहीं कहना कि कवि के निकट चल रहे हैं !...और उसी मार्ग से लाना जिस मार्ग से तुम और मैं आए थे। कवि की दिशा में ही संकेत द्वारा बताना कि मैं वहीं हूँ और तुम मार्ग बदलकर यहाँ आ जाना। कवि से प्रथम प्रियं ही मिलेगी जाओ शीघ्र ही जाओ !" —और आचार्य प्रेम-पुलकित हो उठे।

"जो आज्ञा...!"

और मिहर ने तत्काल जा, प्रियंगुमंजरी को सूचित किया कि आचार्य उन्हें पर्वत-माला पर शीघ्र बुला रहे हैं।

प्रियंगुमंजरी और मेनका आदेशानुसार ही तत्काल उठकर चल पड़ीं। पर्वत पर पहुँचते-पहुँचते सूर्य पर्वत के कोने से पृथ्वी में समा रहा

था। पर्वत पर चढ़कर मिहर ने संकेत द्वारा बताया कि इसी दिशा में आचार्य हैं, मुझे आगे से आने का आदेश नहीं है—मैं यहीं रहूँगा !"

प्रियं और मेनका संकेत किए गए स्थल पर चल दीं। मिहर विपरीत मार्ग से आचार्य के निकट लौट आये।

"श्रीमन्! आपके आदेशानुसार ही मैंने कुमारी को कवि की दिशा में भेज दिया है।"

"स्वयं-भू कल्याण करें !"—आचार्य ने एक दीर्घ श्वास ली।

प्रियंगुमंजरी और मेनका उसी मार्ग पर आगे बढ़ने लगीं। आगे दूर शिला खण्ड पर सहसा प्रियं की दृष्टि टिकी—परिचित आकृति देख हृदय ने एक श्वास में 'शत-शत' धड़कनें लीं। प्रियं को अपने आप पर और निज-चक्षुओं पर विश्वास नहीं हुआ। उसका अंग-प्रत्यंग हवा में हिल रहे पीपल के पत्ते के समान काँप उठा और प्रियंगुमंजरी अपनी शक्ति भर कवि की दिशा में दौड़ पड़ी।

"छम...छम....छम..."

—सुकोमल पैरों के उठने-गिरने की गति के अनुसार ही पैजनियों ने पैरों में ध्वनि की और कवि की ध्यान-तन्द्रा टूटी, पलटकर देखा—लेखनी दूर जा पड़ी, हाथ में के 'पत्र' सायंकालीन वायु-संचार के कारण हाथ में से छूट यत्र-तत्र उड़ने लगे।

"प्रियं ! तुम हो...!"

—कवि नहीं, कवि का आश्चर्य बोल उठा कवि-मुख से।

प्रियंगुमंजरी के नेत्र अश्रुयुक्त थे। कवि के निकट आते ही उसका मस्तिष्क सहसा भारी हो उठा। पैरों को तो मानों—पृथ्वी ने ही पकड़ लिया हो। कठिनाई से शक्ति भर उसने दो डग और भरे। शरीर में विद्युत-सा संचार हुआ और उसके नेत्रों में कालिमा पुत गई—अर्ध-निःश्चल हो प्रियंगुमंजरी चीखी—"कवि...!"

निःश्चल प्रियंगुमंजरी को कवि ने पृथ्वी पर गिरने से प्रथम ही अपने विशाल सुडौल भुज में झेल लिया।

—"प्रियं ! तुम यहाँ कैसे !"

प्रियं तो निश्चल थी, प्रत्युत्तर कौन दे ! कवि ने निश्चल प्रियं को वक्ष पर समेट लिया; साथ ही कवि के निर्मल नेत्रों में से अविराम-अश्रुधार बह चली और गिरने लगी निश्चल प्रियं के मस्तक पर ।

—"प्रियं...प्रियं...बोलो...प्रियं...!"

—विचलित अवस्था में अधीर कवि ने मूर्छित प्रियं से ही अनेक प्रश्न किए। प्रत्युत्तर में मौन पर उसने उसके निश्चल शरीर को अनेक बार डुलाया—

"प्रियं ! तुम इस निर्जन स्थल पर किसके साथ आई—?—कवि अर्ध-विक्षिप्त-से हो प्रश्नों की झड़ी लगा रहे थे।

"श्रीमन् ! मेरे साथ !!"

—कवि के ग्रीष्म के ताप से तपे हृदय पर जैसे शरदेन्दु ने शीतल ज्योत्स्ना वृष्टि की—सुमधुर शब्दध्वनि से प्रेरित कवि ने सामने देखा; अश्रुयुक्त नेत्रों को पसारे मेनका खड़ी थी।—"मेनका, तुम भी ! क्या मेरा यक्ष शाप-मुक्त हो गया...?"

"कौन यक्ष, श्रीमन् ?"

—मेनका कवि के भ्रामक शब्दों से विचलित हुई।

"कुछ नहीं मेनका !"—कवि ने अपने आप पर नियंत्रण किया—

"आचार्यवर...!"

—कवि दौड़कर आचार्य के चरणों में लिपट गया साथ ही नेत्रों ने आचार्य के चरणों पर अनेक अश्रुकण बिखेर दिए। आचार्य का गला रुँध गया, मौन आशीस हेतु आचार्य के सौम्य नेत्रों ने अनेक बूँद अश्रु-जल के कवि के मस्तक पर बरसाना आरम्भ कर दिया। विशाल कर उठा आचार्य ने उठाया और बोले—

"उठो वत्स ! उठो !! तुम चरणों के भागी नहीं, वक्ष के भागी हो ! चरण तो शरणागतों के लिए होते हैं, सम्मानितों के लिए नहीं !!"—

और आचार्य ने कवि को वक्षःस्थल से लगा लिया। आचार्य स्नेह से आत्मविभोर हो रहे थे, गद्गद् कण्ठ हो बोले—"वत्स, आज तुमने मेरे वक्ष को शीतल किया—मिहर, कुमारी प्रियं को साथ लेकर आगे बढ़ो, मैं और कवि साथ आ रहे हैं।"

कवि ने आचार्य के समुद्र से भी अथाह नेत्रों में देखा—कवि को आज आचार्य के चक्षुओं में "स्वर्ग-वन" में अपनी कल्पना का नायक "यक्ष" विरहिणी-यक्षिणी से शापयुक्त हो मिलता लक्षित होने लगा।

"क्या देख रहे हो? वत्स! तुम्हारा वृद्ध आचार्य ही नहीं, समूचा मालव तुम्हें मेरे शब्दों में आमंत्रित कर रहा है!"

कवि किसी और ही लोक में था। एक बार पुनः कवि ने आचार्य के दिव्य तेजपुंज चक्षुओं में देखा। आचार्य के नेत्रों से कवि के तेज नेत्र मिलकर स्तम्भित हो गए। कवि चकित नेत्रों से देख रहे थे—आचार्य के दिव्य चक्षुओं में कवि का 'मेघदूत' गरजता-घुमड़ता बढ़ रहा था। उन्हीं चक्षुओं में कवि को स्वयंभू के भव्यप्रकोष्ठ का शिखर दिखा और मेघ ने वहीं शीतल-सुखद वारि बरसा दिया।...और आचार्य के विशाल चक्षुओं में से अविराम अश्रुधार बह चली।

"मेघ, रुको!"—कवि चीखा अर्धविक्षिप्त-सा।

"विवेक न खोओ, वत्स!"

आचार्य ने अपने अमरुशाल से नेत्र पोंछे और कवि से बोले—"चलो, रात्रि चढ़ रही है।"

"देव! मेरा मेघ ज्योतिर्लिंग पर रुक कर बरस गया। मेरा यक्ष अब शापमुक्त है, स्वयंभू शाप मोचन हैं...!"

"साधु-साधु!"

—आचार्य ने कवि को एक क्षण के लिए पुनः वक्ष पर लपेट लिया।

"मेनका, समीप पात्र में जल है। जा जल ला, प्रियं मूर्छित है!"

मेनका ने जल का पात्र लाकर दिया। कवि ने प्रियंगुमंजरी को अंक में लिटाया। मेनका प्रियंगुमंजरी के मुख पर जल छिड़कने लगी, साथ ही कवि के नेत्र भी प्रियं के मुख पर अश्रु-वृष्टि कर, मुख धोने में सहयोगी हो रहे थे।

पर्वत पर रात्रि की कालिमा छाने लगी थी। कुछ देर पश्चात् प्रियंगुमंजरी ने नेत्र उघारे, समीप ही मेनका को देख वह लजाकर उठ बैठी।

अपने करुणामय मुख को कवि के मुख की सीध में कर प्रियंगुमंजरी ने अपने पुष्प-पंखुड़ी-से नेत्र कवि के निर्मल-नेत्र में मिला दिए। आज वह जी भरकर कवि के मुख को देखना चाहती थी और थी यही लालसा कवि की भी। दोनों के चकित नेत्र परस्पर मिले न जाने कौन सी मौन-चर्चा करते रहे! दोनों के हृदय में सहसा हल-चल मच उठी और परस्पर भावी विचार-तरंगें ज्वार में परिणित हो गईं तथा छलक उठे दोनों के नेत्र...!

प्रकंपित गिरा हो प्रियंगुमंजरी ने कवि से याचना की—

"—चलिए न...!"

"कहाँ...!"—कवि अब भी स्तम्भित-से ही थे।

"स्कन्धावार में!"

—प्रियं में हर लगा नवीन चेतना का संचार हो रहा था।

"चलिए न...!"—आग्रह कर प्रियं उठ खड़ी हुई।

कवि उठे, परन्तु थे स्तंभित-से ही। उन्होंने कहा—"मैं अब अवन्ती न चल सकूँगा!"

"ऐसा अवन्ती ने कौन सा अपराध किया है, वत्स!"

—प्रियंगुमंजरी कुछ बोलती उसके प्रथम ही वृक्ष की ओट से निकल आचार्य ने ये सरस शब्द कहे। मिहर भी आगे बढ़ा।

# ५३

## अवन्तिका की ओर

रात्रि में ही स्कन्धावार उठा लिए गए। अवन्ती लौटने हेतु रथ पुनः सज्जित कर लिए गए। कवि को साथ लेकर आचार्य रथ पर आ बैठे, मिहर ने कुमारी प्रियंगुमंजरी एवं मेनका को रथ पर चढ़ाया। मिहर सार्थ के अगले रथ में बैठा और को सार्थवाह चलने का संकेत किया—उल्का के आलोक में नीरव पथ पर धड़धड़ाते रथ बढ़ चले अवन्ती देश की ओर...!

प्रियंगुमंजरी के हर्ष की आज सीमा नहीं थी। उसका हृदय अनेक स्नेहिल हिलोरें ले रहा था। और प्यासे नेत्र कर रहे थे पान—अपलक बने कवि के सौम्य, चन्द्रिका-से शीतल तथा गंभीर-से-गंभीर मुख का!

आचार्य की प्रसन्नता भी निःसीम थी। वे पर्याप्त समय तक नेत्र बन्द किए मौन बैठे रहे तथा कवि के सम्बन्ध में ही अनेक प्रकार की बातें सोच गए। गंभीर विचार में उलझ जाने से सहसा उनकी विचार-शृंखला टूटी। वे कवि से बोले—

" 'ऋतु-संहार' एवं 'मालविकाग्निमित्र' के पश्चात् अभी तक और कौन सा साहित्य सृजन किया है तुमने वत्स !" और आचार्य सहसा खुलकर हँसे—"और यह तुम्हारा शाप-मुक्त यक्ष कौन है ?"

कवि कुछ लज्जित हुए। अपनी सरल-दृष्टि से उन्होंने आचार्य के मुस्कराते भावुक मुख की ओर देखा।

आचार्य पुनः बोले—

"और रामगिरि पर तुमने 'मेघ' के सम्बन्ध में भी तो कुछ कहा था !"

कवि को अपनी उस अर्ध-विक्षिप्त-सी भावुकता का ध्यान आया—अवश्य ही मैं अधिक विचलितावस्था में अनर्गल प्रलाप कर गया, कवि ने सोचा और बोले—

"देव ! मैंने एक खण्ड-काव्य और भी लिखा है। जिसके अन्तिम छन्द को आज ही पूर्ण कर मैंने उस पर हस्ताक्षर किए ही थे कि मुझे प्रियंगुमंजरी दिखी उसी के सम्बन्ध में कुछ कह गया होऊँगा ?"

"क्या नाम है, उस काव्य का ?"

"—मेघदूत" श्रीमन् !"

"बड़ा ही रहस्यमय नाम है ! किसका दूत है यह ?"

—आचार्य मुस्कराए भी।

"मेरा ही...!"—व्यंग किया कवि ने और दृष्टि टिका दी प्रियं के मुख पर—प्रियंगुमंजरी आचार्य के पार्श्व में मेनका के अंक में मस्तक टिकाए सो रही थी। आचार्य ने भी उसकी ओर देखा और एक गहरी साँस ली—

"बावरी आज सुख की निद्रा सो सकी है। कितनी निश्चिन्त हो गई तुम्हें पाकर आज यह !" और एक बार आचार्य के चक्षु मेनका के मुख पर टिके—वह भी वहीं रथ के पट् से टिकी सो रही थी—"वत्स ! अब तुम भी विश्राम कर लो !"—आचार्य ने कवि से कहा और रथ के बाहर दृष्टि घुमा दी।

तुरंग, द्रुत गति से चिर-परिचित मार्ग पर अवन्ती की दिशा में दौड़ रहे थे। अश्वों के गले में बँधे, बज रहे रजत-घूँघुरों की सुमधुर स्वर-ध्वनि में अपना ध्यान केन्द्रित कर आचार्य भी निद्रा-मग्न हो गए।

× × ×

उज्जयिनी के गगनचुम्बी प्रासाद दूर से लक्षित होने लग गए थे। रथ रुक जाने पर आचार्य ने मिहर से कहा—

"विद्वन्, मिहर! एक तुरंगारूढ़ सैनिक को मालवेश के निकट भेज दो—इस सु-संदेश से अवगत कराने हेतु!"

"भन्ते, आचार्य! जो आज्ञा!!"

—और मिहर ने तत्काल आचार्य के आदेशानुसार ही एक 'चर' मालवेन्द्र विक्रम के निकट पहुँचा दिया। रथ पुनः आश्रम की ओर चल पड़े।

दूत ने सम्राट विक्रम को इस शुभ-समाचार से अवगत कराया। मालवेन्द्र को इतनी प्रसन्नता हुई, जो संभवतः 'विदिशा-विजय' के शुभ समाचार से भी नहीं हुई होगी। तत्काल रथ निकलवाकर सम्राट आचार्य वराहमिहर एवं योगिराज बैताल को साथ लेकर आचार्य वररुचिजी के आश्रम आए!

रथ आश्रम-द्वार पर आकर रुके। प्रसन्न-वदन आचार्य वररुचिजी रथ से उतरे।

"कवि कहाँ हैं, देव!"

"रथ में ही!"—आचार्य मुस्कराए, बोले—

"वत्स! उतरो, सम्राट अधीर हो रहे हैं!"

कवि रथ से उन्हीं के पीछे प्रियंगुमंजरी और मेनका भी। सभी के नेत्र कवि को शीतल हुए। कवि ने सभी को नम्रतापूर्वक अभिवादन किया।

मालवेन्द्र विक्रम एक क्षणभर के लिए अपने आपको भूल गए, उन्होंने कवि को बर-बस वक्ष पर खींच लिया। प्रकंपित गिरा हो वे कहने लगे—"आज अवन्ती ने अपना खोया रत्न पा लिया है...और मैंने अपनी शान्ति!"

—साथ ही सम्राट के नेत्र बरस पड़े। कवि के नेत्र भी सम्राट से स्पर्द्धा कर गए।

"बस, पर्याप्त रहा मिलन!"—आचार्य ने विक्रमादित्य से कहा—

"आश्रम में ही चलो!"

सभी आश्रम में आ गए।

# ५४

## भव्य-स्वागत

कवि के पुनरागमन से उज्जयिनी के नागरिक अत्यधिक प्रसन्न हुए एवं सभी ने समूचे नगर को मांगलिक तोरणों से सजाया तथा सम्राट से यह प्रार्थना अभिव्यक्त की कि एक महोत्सव का आयोजन भी कवि के आगमन के उपलक्ष में किया जाए। प्रजा में कवि के प्रति अगाध प्रेम पा मालवेन्द्र अत्यन्त हर्षित हुए तथा प्रजा के इस प्रिय प्रस्ताव को आचार्यों के समक्ष रखा—सभी ने स्वीकृति दी और कहा—कवि सम्मानित सभासद हैं, उनका सम्मान किया जाना आवश्यक है।"

मालवेन्द्र ने कहा—"मेरी इससे भी प्रबल आकांक्षाएँ हैं। मैं चाहता हूँ—कवि के आगमन के उपलक्ष में जो महोत्सव आयोजित किया जाएगा उसी में प्रियंगुमंजरी और कवि का ग्रन्थी-बन्धन भी कर दिया जाए। सूर्य शुभ राशि पर हैं, अभी योग भी शुभ है। दूर-सुदूर के नरेन्द्रों को आमंत्रित किया जाए तथा इसी शुभावसर पर प्रियं एवं कवि का विवाह वैदिक रीति से कर दिया जाए। आषाढ़ मास है दाक्षिणायन समीप है फिर योग न बनेंगे।"

सम्राट् के इस प्रस्ताव का सभी ने समर्थन किया। महाकातीन्तिक वराहमिहरजी ने शुभलग्न निश्चित किए और दूर-दूर के नरेन्द्रों को इस अवसर पर आमंत्रित किया।

× × ×

वैवाहिक तैयारियाँ होने लगीं। अंग, वंग, कलिंग, मगध, आँध्र, सौराष्ट्र और भी अन्य देशों के आमन्त्रित नरपति-गण इस शुभ अवसर पर आए। दूर-दूर तक उज्जयिनी के आस-पास स्कन्धावार डाल दिए गए।

शनैः-शनैः शुभ-संयोग आया और कवि की सवारी विशाल जन-समुदाय के साथ नगर के प्रमुख प्रमुख मार्गों पर से बारात के रूप में निकली। उज्जयिनी के नागरिकों ने अपने कवि को सम्मानित "रत्न" तथा प्रिय "जामाता" के रूप में स्वीकार किया।

आमंत्रित नरेशों के रथों के मध्य कवि का बहुमूल्य प्रसाधनों से सज्जित रथ एक विशेष आलोक लिए था। दूल्हे के सुवेश में द्युतिमान कवि आचार्य बररुचिजी के साथ उसमें बैठे थे। और भी अन्य विद्वान् मण्डलों के रथ भी विशाल समारोह में जुड़े हुए थे।

कवि की सवारी के चारो ओर दूर-दूर से आए दर्शनाभिलाषी दर्शकों का जमघट लग गया था। क्षण-प्रतिक्षण हर्षयुक्त जय-ध्वनि चहुँ ओर से गूँजित हो रही थी। ऊँचे-ऊँचे प्रासादों से पुष्प-वृष्टि हो रही थी।

प्रमुख-प्रासाद के निकट से होकर जब सवारी निकली, ऊँचे राज्य-प्रासाद के उच्छलध्वज से कुमारी प्रियंगुमंजरी ने कवि की सवारी को देखा—कवि का आज का रूप और सम्मान देख वह गौरव से फूल उठी, स्नेहार्पित हो स्वतः प्रियंगुमंजरी ने भी अपने हृदय-अभीप्सित के दिव्यरथ पर सुमनावली अर्पित कर दी।

कवि ने रथ में से ऊँचा मस्तक उठा, उच्च-अटालिका पर प्रियं को देखा और मुस्करा दिए—भोली प्रियं के इस मृदुल व्यवहार पर।

आचार्य ने भी देखा और प्रसन्न हो बोले—"वत्स ! मुझे बहुत पूर्व की एक घटना स्मरण हो आई है। जब तुम प्रथम ही प्रथम मेरे आश्रम में आए थे—ज्ञात है तुम्हें कि तुमने मुझसे क्या कहा था ?"

"नहीं, देव !"—कवि ने अनभिज्ञता प्रकट की।

"वत्स ! तुमने मुझसे कहा था—"मुझे ऐसा विद्वान् बनाइए कि नगर में धूमधाम से सवारी निकले, प्रजा पुष्प-वृष्टि करे।" और आज स्वयंभू ने तुम्हारी प्रिय आकांक्षा फलीभूत की।" आचार्य अधिक भावुक हो उठे एवं गद्‌गद् कण्ठ हो बोले—"आज मैं धन्य हुआ।"

विनत वदन कवि नतमस्तक हो मौन बैठे रहे। सवारी प्रमुख-प्रमुख मार्गों पर से होती हुई एक विशाल प्रासाद में ठहरी। सम्राट विक्रम ने आज समूचे संचित ऐश्वर्य को कवि पर भेंट कर दिया। सभी का यथोचित स्वागत किया गया। आज मालवेन्द्र एवं मालव-जन के हर्षोल्लास का ठिकाना नहीं था।

शनैः-शनैः वह शुभ संयोग भी बना, जब आचार्य वररुचिजी ने हाथ पकड़कर लज्जाभार से झुकी सिमटी-सकुची प्रियंगुमंजरी को वधू के रूप में 'हवन-वेदि' के सम्मुख बैठाया। पुरोहित कार्य स्वतः वराहमिहरजी ने किया। दूर-सुदूर से आए आमंत्रित वेद-विदों ने वैवाहिक मन्त्रोच्चार किए। आहुति के साथ ही साथ घृत 'धूँ-धूँ' करने लगा। हवन-वेदि में पड़े मांगलिक पदार्थों की सुवास से सारा वातावरण सुरभित हो उठा।

ब्राह्मणों की वैदिक मङ्गलाष्टकों की सामूहिक ध्वनि के साथ ही द्वार पर भी वाद्यों पर मङ्गल-गान बज उठे।

और आज सम्राट विक्रम ने हवन-वेदि के तथा परजन और परिजन के समक्ष अपनी लाड़ली पुत्री—प्रियंगुमंजरी को सदा-सदा के लिए कवि के हाथों में सौंप दिया।

# ५५

## मधुर-मिलन

राज्य-सेविकाओं ने व्यंग-वार्ता के साथ प्रियंगुमंजरी का शृंगार किया। मेनका ने अपने हाथों से मानिनी-वधू प्रियंगुमंजरी की घनी कुन्तल-राशियों को समेट कर वेणी के रूप में गूँथा एवं वैजयन्ती तथा जूही के पुष्पों से सजा, जूड़े के रूप में वेणी-युक्त केशों को मस्तक पर कसा। चँचल नेत्रों के आस पास चमकीले पराग का लेपन किया तथा तन्तु-गौर गात पर चन्दन मला। उच्च वक्ष पर जगमगाती बहुमूल्य कंचुकी कसी, मृणालनाल-से कोमल—नरम-नरम हाथों में सुवासित पुष्पों के गजरे पहिना दिए। एक दासी ने मस्तक पर बारीक कौशेय वसन डाल दिया, जिसमें से कुमारी प्रियंगुमञ्जरी का चन्दन-चर्चित ज्योतिर्मय-समुज्वल गौर-गात द्युतिमान हो रहा था।

चतुर-चपल सेविकाओं ने लजीली-प्रियं को बरबस दर्पण के समक्ष खड़ा कर दिया और सभी कोष्ठक के बाहर हो गईं। चकित-चितवन उठा प्रियंगुमंजरी ने दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखा और देखती ही रही वह अपने आपको—न जाने कब तक!

प्रियंगुमंजरी पर्यङ्क की ओर पलटी। अपनी मतवाली हँसिनी-सी चाल पर आज स्वतः उसे गर्व था। उसे भ्रम हुआ—वह डोल रही है या स्वतः अवनी...!

× × ×

रात्रि में जब कवि कोष्ठक में आए, अलंकारों से सज्जित स्वतः सौन्दर्य अलंकृता—प्रियंगुमंजरी अपने महावर से रँगे नरम हाथों में रति-सुख छिपाए कवि की प्रतीक्षा में पर्यंक पर लेटी थी।

"चर...चूँ...चर...चूँ"

—कवि की जड़ाऊ पादुका ने ध्वनि की। कवि आगे बढ़े, प्रियं ने देखा—कवि के चन्द्रिका शीतल मुख पर अलौकिक प्रकाश था, नेत्र ऐसे ज्योतिर्मय हो रहे थे मानों सूर्य बिम्बित हो।

"प्रियं!..."

—कवि ने ऐसे कहा जैसे स्वतः संगीत ही कवि के मुख में आ-मुखरित हुआ हो। "आ...गए...!"

—जैसे आज के लिए यह दो लघु शब्द-स्वर स्वतः शारदा ने ही प्रियंगुमंजरी के लिए संजोए थे।

और फिर...दोनों ही सदा-सदा के लिए एक हो गए थे।

प्रियंगुमंजरी और कवि कालिदास।